गांधी-साहित्य—५

धर्म-नीति

•

[गांधीजीकी 'नीति-धर्म', 'सर्वोदय', 'मंगल प्रभात' और 'आश्रमवासियोंसे' नामक चार पुस्तकोंका संग्रह]

१९५०

सस्ता साहित्य मंडल • नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५०

मूल्य
अजिल्द डेढ़ रुपया
सजिल्द दो रुपये

मुद्रक
कृष्णप्रसाद दर
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्रकाशककी ओरसे

इस सग्रहमें गाधीजीकी १ नीतिधर्म २ सर्वोदय ३. मंगलप्रभात और ४. आश्रमवादियोसे, ये चार पुस्तके दी जा रही है ।

इनमेसे पहली और दूसरी पुस्तक 'नीतिधर्म' और 'सर्वोदय' गाधीजीके हिंदुस्तान आनेके पहले दक्षिण अफ्रीकामें तथा तीसरी और चौथी यरवदा जेलसे सन् १९३० में और, ३२ में पत्ररूपमें लिखी गई थी ।

'सर्वोदय' नामक पुस्तक रस्किनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का साराश है। बापूके जीवनपर रस्किनकी इस पुस्तकने विशेष प्रभाव डाला था ।

ये चारो पुस्तके गाधीजीके धर्म और नीति सबधी विचारो-पर प्रकाश डालनेवाली है । वास्तवमे तो गांधीजी धर्म और नीतिको अलग नही मानते थे । उनका कहना है कि धर्म ही नीति है और नीतिको धर्मके अनुसार होना चाहिए । इसी खयालसे इस सग्रहका नाम 'धर्म-नीति' रखा गया है ।

—मंत्री

विषय-सूची

धर्म-नीति

नी ति-ध र्म

[नीति-नियम और उनके पालन सबंधी विचार]

इन दिनों दुनियामें पाखंड बढ गया है। मनुष्य चाहे जिस धर्मका माननेवाला हो, उस धर्मके ऊपरी रूपमात्रका विचार करता है और अपने सच्चे फर्जको भूल जाता है। अत्यन्त धन-सग्रहके कारण दूसरे आदमियोको क्या कष्ट मिलता है या मिलेगा इसका खयाल हम शायद ही करते है। अतिशय सुकुमार नन्हें-नन्हें प्राणियोको मारकर अगर उनकी खालके मुलायम मोजे बनाये जा सके तो यूरोपकी महिलाओको उनकी खालके मोजे पहननेमें जरा भी हिचक न होगी। मि० राकफेलरकी गिनती दुनियाके बडे-से-बडे धन-कुबेरोमें है। दुनिया जानती है कि पैसा इकट्ठा करनेमें उन्होने नीतिके कितने ही नियमोको तोडा है। यो चारो ओर देखकर यूरोप और अमरीकाके बहुतेरे मनुष्य धर्मके विरोधी हो बैठे है। वे यह दलील देते है कि दुनियामें अगर कोई भी धर्म हो तो दुराचरण, जो इतना बढ गया है, वह बढना न चाहिए। यह विचार भूलसे भरा हुआ है। मनुष्य अपने सदाके अभ्यासके अनुसार अपना दोष न देखकर अपने औजारको दोष देता है। वैसे ही लोग अपनी खोटका विचार न कर धर्मको ही बुरा कहते है और स्वच्छन्द होकर जो जीमें आए वह करते और कहते है। यह देखकर अमरीका और यूरोप-में ऐसे बहुतसे लोग निकल आए है जो यह सोचकर कि यो सब धर्मोका नाश हो जाय तो दुनियाकी भारी हानि होगी और लोग नीतिका रास्ता छोड देंगे, जुदा-जुदा रास्तोसे लोगोको नीति-पथपर लानेका प्रयास कर रहे है। एक ऐसा मडल स्थापित हुआ है जो सब धर्मोके तत्त्वोकी खोज करके यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि सभी धर्म नीति तो सिखाते ही है, उनका

आधार भी अधिकाशमें नीतिके नियम ही होते है। और कोई आदमी धर्मविशेषको माने या न माने, पर वह नीतिके नियमोका पालन न कर सके तो ऐसे आदमीके किये इस लोक या परलोकमें अपना या दूसरेका भला नही होनेका। जो लोग कुछ पथो-सप्रदायोमें पाखडका बोलबाला देखकर धर्ममात्रको नफरतकी निगाहसे देखते है ऐसे लोगोकी शंकाओका समाधान करना इस मडलका उद्देश्य है। इस मडलको चलानेवाले सब धर्मोका सार निकालकर उसमेंसे केवल नीतिके विषयोकी चर्चा करते है। इस मतको वे नीति-धर्म अथवा 'एथिकल रिलिजन' कहते है। इस मडलका काम किसी भी धर्मका खडन करना नही है। चाहे जिस धर्मके माननेवाले उसमें दाखिल हो सकते है। इस मडलका लाभ यह होता है कि इस तरहके लोग अपने धर्मका अधिक दृढतासे पालन करने लगते है और उसमें नीतिके विषयमें जो उपदेश दिये गए हो उनपर अधिक ध्यान देते है। इस मडलके सदस्य पक्के मनसे मानते है कि मनुष्यको नीतिका पालन करना ही चाहिए और यह न हुआ तो दुनियाका विधान, व्यवस्था टूट जायगी और अतमें भारी हानि होगी। मि० साल्टर नामके अमरीकाके एक विद्वान् है। उन्होने एक सुदर पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें धर्मकी चर्चा नामको भी नही, पर उसके उपदेश सभी आदमियोपर घटित हो सकते है। इस पुस्तकके लेखकके विषयमें इतना ही कहना आवश्यक है, कि जितना करनेकी सलाह वह हमें देता है उतना खुद भी करता है। पाठकोसे मेरा अनुरोध है कि जो कोई भी नीतिवचन उनको सच्चे जान पड़ें उनके अनुसार वे चलनेका यत्न करें तो मै अपने इस प्रयासको सफल मानूगा।

—मो० क० गाधी

नीति-धर्म

: १ :

प्रारंभ

जिस वस्तुसे हमारे मनमे अच्छे विचार उठते हो वह हमारी नीति, सदाचारका फल मानी जाती है। दुनियाके साधारण शास्त्र बताते है कि दुनिया कैसी है। नीतिका मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्गके द्वारा हम यह जान सकते है कि मनुष्यको किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्यके मनके भीतर सदा दो दरवाजे होते है—एकसे वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरेसे उसे कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनोको अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायं तो इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी हम उसका कोई लाभ नही उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदिका क्या फल होता

है और जहा ये तीनो इकट्ठे हों वहा कैसी खरावी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नही है, वल्कि जानकर आचरण करना है। नीतिका विचार तो वास्तुविशारदके नकशे-के जैसा है, जो यह वताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हो तो नकशा हमारे लिए वेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति-का विचार नकशेकी तरह वेकार हो जाता है। वहुतेरे नीतिके वचन याद करते है, उस विषयपर भाषण करते है, पर उसके अनुसार चलते नही, और चलना चाहते भी नही। कितने ही तो यही मानते है कि नीतिके विचारोको इस लोकमे नही, पर-लोकमे अमलमें लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नही माना जा सकता। एक विचार-वान् मनुष्यने कहा है कि हमे सपूर्ण होना हो तो हमे आजसे ही नीतिके अनुसार चलना है, चाहे इसमे कितने ही कष्ट क्यो न सहन करने पडें। ऐसे विचार सुनकर हमें चौंक न उठना चाहिए, वल्कि अपनी जिम्मेदारी समझकर तदनुसार व्यवहार करनेमे प्रसन्न होना चाहिए। महान् योद्धा पेम्ब्रोक जव ओवेरोकके युद्धकी समाप्तिपर अर्ल डरवीसे मिला तो उन्होने

उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचनापर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नही बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथसे छीन लिया, मुझे लडाईमे शामिल होनेको बुलाया तो फिर मेरे पहुंचनेके पहले लड़ाई न लडनी थी।" इस प्रकार नीतिमार्गमे जब किसीको जिम्मेदारी लेनेका हौसला हो तभी वह उस रास्तेपर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, संपूर्ण है, उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्यायकी सीमा नही है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बंदे समझे जाते है, नीतिमार्गको कैसे छोड़ सकते है? नीतिका आचरण करनेवाला विफल हो तो इसमें कुछ नीतिका दोष नही है, बल्कि जो लोग नीति भग करते है वे ही अपने आपको दोषभाजन बनाते है।

नीतिमार्गमे नीतिका पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करनेकी बात आती ही नही। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पानेके लिए नही, बल्कि इसलिए कि भलाई किए बिना उससे रहा नही जाता। खूराक और भलाई दोनोंकी तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकारका आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करनेका अवसर

दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवालेका एहसान-मंद होता है, वैसे ही जैसे भूखा अन्न देनेवालेको दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नही है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपरसे मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नही है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख ले, थोडा अधिक साफ-सुथरे रहे, इत्यादि। यह सब उसके अदर आता है, पर इतनेके मानी तो यह हुए कि हम महज सरहदपर पहुच पाए। इस मार्गके अदर इनके सिवा और बहुतकुछ मनुष्यको करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है—यह सोचकर नही कि वैसा करनेसे हमें कोई लाभ होगा।

: २ :

उत्तम नीति

नीति-विषयक प्रचलित विचार वजनदार नही कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते है कि हमे नीतिकी

वहुत परवा नही करनी है। कुछ मानते है कि धर्म और नीतिमे कोई लगाव नही है। पर दुनियाके धर्मोको वारीकीसे देखा जाय तो पता चलेगा कि नीतिके विना धर्म टिक नही सकता। सच्ची नीतिमे धर्मका समावेश अधिकांशमे हो जाता है। जो अपने स्वार्थके लिए नही, वल्कि नीतिके खातिर नीतिके नियमोका पालन करता है उसको धार्मिक कह सकते है। रूसमे ऐसे आदमी है जो देशके भलेके लिए अपना जीवन अर्पण कर देते है। ऐसे लोगोंको नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी वेथमको, जिसने इंगलैडके लिए वहुत अच्छे कानूनोके नियम ढूढ निकाले, जिसने अग्रेज जनतामे शिक्षाके प्रसारके लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियोंकी दशा सुधारनेके यत्नमे जवर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते है।

फिर सच्ची नीतिका यह नियम है कि हम जिस रास्तेको जानते हों उसको पकड लेना ही काफी नही है, वल्कि जिसके वारेमे हम जानते हो कि वह सही रास्ता है—फिर उस रास्तेसे हम वाकिफ हो या न हो—उसपर हमे चलना ही चाहिए। यानी जव हम जानते हो कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तव निर्भय होकर उसपर कदम वढा ही देना चाहिए।

इसी नीतिका पालन किया जाय तभी हम आगे बढ सकते है। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने मे आती है।

अपनी इच्छाओकी जाच करे तो हम देखेगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नही होता। जो चीज अपने पास नही होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आकते है। पर इच्छा दो प्रकारकी होती है। एक तो होती है अपना निजका स्वार्थ साधनेकी। ऐसी इच्छाको पूरा करनेके प्रयत्नका नाम अनीति है। दूसरी प्रकारकी इच्छाए ऐसी होती है कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरोका भला करनेकी ओर होता है। हम कोई भला काम करे तो उसपर हमे गर्वसे फूल न जाना चाहिए। हमे उसका मूल्य नही आकना है, वल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करनेकी इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओके पूरा करनेके लिए जो आचरण किया जाय उसको सच्ची नीति कहते है।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमे लज्जित होनेकी कोई वात नही है, पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें, जो धंधा-रोजगार करें उसमे लोगोंको ठगें तो हम नीतिके मार्गसे च्युत हो गए।

जो करना हमे उचित है उसे करनेमें नीति है। इस तरह नीतिकी आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणोसे सिद्ध कर सकते हैं। जिस जनसमाज या कुटुबमें अनीतिके बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखनेमे आते हैं वह जनसमाज, कुटुब गिरकर टूट जाता है। फिर धधे-रोजगारकी मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नही दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्यका पालन नही करना चाहिए। न्याय और भलाईका असर कुछ वाहरसे नही हो सकता, वह तो हममे ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोपमे अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घडीभर शान्तिसे न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगोमे नीति न थी। हम नीतिके समस्त नियमोका दोहन करे तो देखेंगे कि मानव-जातिका भला करनेका प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुजीसे नीति रूपी सदूकको खोलकर देखा जाय तो नीतिके दूसरे नियम हमे उसमे मिल जायगे।

इन अध्यायोके नीचे हम गुजराती या उर्दू कवियोंकी नीति-नियमोसे संवंध रखनेवाली कविताए चुनकर देते जायंगे इस आशासे कि

उनका लाभ हमारे सभी पाठक लेंगे और हमारे युवक पाठक तो उन्हे कठस्थ भी करेंगे । इसका श्रीगणेश हम श्रीमलवारीकी पुस्तक 'आदम अने तेनी दुनिया' ('आदम और उनकी दुनिया') से कर रहे हैं[1] ·

क्यु (क्यों) मुश्ताक होके तु (तू) फिरता बिरादर ?
अये (ऐ) दाना[2] तवाना[3] होनार तमे हाजर (होना है तुझे, हाजिर)
चले गये बडे फिलसुफा[4] पहलवानां ।
अरे दोस्त दाना, तु (तू) होगा दिवाना (दीवाना) ।
न दाना की दानाई हर दम टकेगी (टिकेगी);
न नेका वी (भी) हरदम गुजारेंगे नेकी ।
किसे यारी हरदम ने (को) देता जमाना,
अरे दोस्त दाना, तु (तू) होगा दिवाना ।
कुवत[5] (कूवत) पोलतन को तु (तू) लेके फिरेगा ।
जमाना अचानक शिकस्त[6] आके देगा ।
अकलकी नकल वे अकल वल बनाना,
अरे दोस्त दाना तु (तू) होगा दिवाना ।
गुजारे (को) अवल वचगीकी बादशाही,
होनारत[7] दरद (दर्द) देवे जमको गवाहीं ।

---

[1] उर्दू हिंदी पद्योंके कितने ही शब्द अशुद्ध या गुजराती रूपमें हैं । उनके वही रूप रहने दिये गए हैं और शुद्ध रूप कोष्ठमें दे दिये गए हैं ।--अनु०

[2] बुद्धिमान, [3] बलवान, [4] फिलासफर, तत्ववेत्ता, [5] बल; [6] हार, पराजय, [7] होनेवाली पीडा

वेताका(क)त को(कि)स राह उठाना सोलाना (सुलाना),
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना।
न दुनियामें तेरा हुवा को (कोई) न होगा,
न तुं (तू) तेरा होवे हसेगा वा रोगा (रोयेगा),
सिवा पाक दादार[1] सबकोइ (कोई) बेगाना,
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना।

: ३ :

नीतियुक्त काम कौनसा ?

क्या हम यह कह सकते है कि अमुक काम नीति-युक्त है ? यह सवाल करनेमे नीतिवाले और बिना नीतिके कामोकी तुलना करनेका हेतु नही है, वल्कि जिन कामोके खिलाफ लोग कुछ कहते नही, और कितने ही जिन्हे नीतियुक्त मानते है, उनके विषयमे विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामोमे खास तौरसे नीतिका समावेश नही होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाजके अनुसार आचरण करते है। इस तरह रूढिके अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमोंका अनुसरण हम न करे तो अधा-

[1] परमेश्वर

घुधी चलने लगे और दुनियाका कार-बार बद हो जाय, पर यो रूढिके पीछे चलनेको नीतिका नाम देना मुनासिब नही कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए जो हमारा अपना है यानी जो हमारी इच्छासे किया गया हो। जबतक हम मशीनके पुरजेकी तरह काम करते हो तबतक हमारे काममे नीतिका प्रवेश नही होता। मशीनके पुरजेकी तरह काम करना हम पर फर्ज हो और हम करे तो यह विचार, नीतियुक्त है, क्योंकि हम उसमे विवेक-बुद्धिसे काम लेते है। यह यांत्रिक काम और वह काम करनेका विचार करना, इन दोनोमे जो भेद है वह ध्यानमे रखने योग्य है। राजा किसीका अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है, पर माफीकी चिट्ठी ले जानेवाले चपरासीका राजाके किये हुए नीतिमय कार्यमे यान्त्रिक भाग है। हा, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमागसे काम नही लेता और जैसे लकडी बहती है वैसे प्रवाहमे बहता जाता है वह नीतिको कैसे समझेगा ? कितनी ही बार मनुष्य रूढिके विरुद्ध होकर परमार्थ करनेके इरादेसे

कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगोके सामने भाषण करते हुए कहा था, "जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नही सीख लेते तबतक मेरे बारेमे तुम क्या सोचते हो इसकी मुझे चिता नही है।" यह स्थिति हमे तबतक प्राप्त नही होनेकी, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगे कि सबका अतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्यका साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वत अच्छा हो इतना ही काफी नही है, वह काम हमने अच्छा करनेके इरादेसे किया हो यह भी जरूरी है। अर्थात् कार्य-विशेषमे नीति होना न होना करनेवालेके इरादेपर अवलबित होता है। दो आदमियोने एक ही काम किया हो, फिर भी एकका काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरेका नीतिरहित। जैसे एक आदमी दयासे द्रवित होकर गरीबोंको खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरहके स्वार्थी विचारसे वही काम करता है। दोनोका काम एक ही है, फिर भी पहलेका काम नीतियुक्त माना जायगा और दूसरेका नीति-रहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दोके बीच जो अतर है, वह यहा पाठकोको याद रखना है।

यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त कामका असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीतिके विषयमे विचार करते हुए हमे इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतुसे किया गया है। उसके फलपर हमारा बस नही, फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहशाह सिकदरको इतिहासकारोने महान् माना है। वह जहा-जहा गया वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओ आदिको प्रचलित किया और उसका फल हम स्वादसे चख रहे है। पर यह सब करनेका उद्‌देश्य बडप्पन पाना था, अत कौन कह सकेगा कि उसके काममे नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर नीतिमान नही कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारोसे साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादेसे किया हुआ हो, इतना ही काफी नही है, बल्कि वह बिना दबावके भी किया हुआ होना चाहिए। मै दफ्तर देरसे पहुंचू तो नौकरीसे हाथ धोऊगा, इस डरसे मै तडके उठूं तो इसमे रत्तीभर भी नीति नही है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मै गरीबी और सादगीकी जिन्दगी बिताऊं तो इसमे भी नीतिका योग नही है, पर मैं

धनवान होते हुए भी सोचूं कि मै अपने आस-पास दरिद्रता और दु ख देख रहा हू, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबीमे और सादगीके साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायगे इस डरसे उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हे अच्छी या अधिक तनखाह दी जाय तो इसमे नीति नही रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थबुद्धि है। मैं उनका भला चाहू, मेरी समृद्धिमे उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हे रखू तो इसमे नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्तीसे या डरकर न किया गया हो। इगलैडके राजा दूसरे रिचर्डके पास जब आखें लाल किये हुए किसानोका समुदाय अनेक अधिकार मागने पहुचा तो उसने अपने हाथसे अधिकार-पत्र लिखकर उसके हवाले कर दिया, पर जब किसानोका डर दूर हो गया तब उस फरमानको उसने जोर-जुल्मसे वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्डका पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्डका पहला काम केवल भयसे किया गया था, इसलिए उसमे नीति छू तक नही गई थी।

(जैसे नीतियुक्त काममे डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमे स्वार्थ भी न होना चाहिए) ऐसा कहनेमे यह हेतु नही है कि जिस काममे स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस कामको नीतियुक्त कहे तो यह नीतिको धब्बा लगानेके समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहारनीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नही टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभकी दृष्टिसे की गई हो वह प्रीति नही।[1]

(जैसे इस लोकमे लाभके उद्देश्यसे किया हुआ काम नीतियुक्त नही माना जा सकता वैसे ही परलोकमे लाभ मिलेगा, इस आशासे किया हुआ काम भी नीति-रहित है।) भलाई भलाईके लिए ही करनी है, यो समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान् जेवियरने ईश्वरसे प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मतसे भगवानकी भक्ति इसलिए नही करनी थी कि मरनेके बाद उत्तम दशा भोगनेको मिले, वह भक्ति इसलिए करता था

---

[1] एक उर्दू कविने भी यही बात कही है—"दोस्ती और किसी गरजके लिए, यह तिजारत है, दोस्ती ही नहीं।"—अनु०

कि वह मनुष्यका कर्त्तव्य है। महान् भगवद्‌भक्त थेरिमा अपने दाहिने हाथमें मशाल और बाए हाथमें पानीकी वाल्टी यह जतानेके लिए रखना चाहती थी, कि मशालसे स्वर्गके सुखको जला डाले और पानीसे दोजखकी आग वुझा दे, जिससे इन्सान दोजखके भयके विना खुदाकी इवादत करे। इस तरहकी नीतिका पालन उस आदमीका काम है जो सिरपर कफन वाधे फिरता हो। मित्रके साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मनसे दगावाजी करना यह नामर्दोका काम है। डर-डरकर भले काम करने-वाला नीति-रहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभावका माना जाता था। उसने अपने लोभके आगे अपनी नीतिकी बलि देदी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुप था; पर पैसेके लिए एक वार वह कातर हो गया। एक हलके कामसे अपने दूसरे अच्छे कामोको धो डाला। इस उदाहरणसे हम देख सकते है कि मनुष्यकी नीतिकी परीक्षा करना कठिन है, क्योकि उसके मनकी परख हम नही कर सकते। इसी प्रकार इस प्रकरणके आरंभमे नीतियुक्त काम कौन है यह जो प्रश्न किया गया है, उसका जवाव भी हमे मिल चुका। कैसे आदमी

नीतिका पालन कर सकते हैं यह हमने अनायास ही देख लिया।

ऊपरके विषयसे मेल रखनेवाली कविता

हरिनो मारग छे शूरानो कायरनु नहि काम जोने,
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वळती लेवु नाम जोने।
सुत वित्त दारा शीश समर्पे ते पामे रस पीवा जोने,
सिंधु मध्ये मोती लेवा, माहि पड्या मरजीवा जोने।
मरण आगमें ते भरे मुट्ठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे ऊभा ते जूए तमाशो, ते कोडी नव पामे जोने;
प्रेम पथ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने;
माहि पड्या ते महासुखमाणे, देखनारा दाझे जोने।
माथा साटे मोघी वस्तु, सापडवी नहि सहेल जोने;
महापद पाम्या ते नर जीव्या, मूकी मननो मेल जोने।

भावार्थ—हरिका मार्ग शूर-वीरके लिए है, उसमे कायरका काम नही। उसपर चलनेवाला पहले अपना सिर दे, उसके वाद उसका नाम ले। जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और अतमे अपना शीश भी समर्पण कर दे, वही उसका रस पी सकता है। मरजीया मोती पानेके लिए समुद्रके भीतर पैठता है। जो मौतके मुहमे पैठे वही मोतियोसे अपनी मुट्ठी भर और हृदयकी पीडा मेट सकता है। किनारे खडा

रहनेवाला तमाशा भर देखता है, उसके हाथ एक कौडी भी नही लगती। प्रेमका पंथ पावककी ज्वाला है। जो उसके भीतर घुसता है वह महासुख अनुभव करता है। देखकर भागने और दूर खडा रहनेवाला उसकी आचसे जलता है। सिर देकर उसके बदले दुर्लभ वस्तुका पाना सरल नही है। ऐसे लोग अपने मनका मैल त्याग करके महापदको प्राप्त कर अमर होते है।

: ४ :

अच्छा नियम कौनसा है ?

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारेमे हम सदा मत प्रकट किया करते है। कुछ कामोसे हमे सतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते है। कार्यविशेषके भले या बुरे होनेका आधार इस बातपर नही होता कि वह काम हमारे लिए लाभजनक है या हानिकारक, पर उसकी तुलना करनेमे हम जुदे ही पैमानेसे काम लिया करते है। हमारे मनमे कुछ विचार रम रहे होते है, उन्हीके आधारपर

हम दूसरे आदमियोके कामोकी परीक्षा किया करते है। एक आदमीने दूसरे आदमीका कोई नुकसान किया हो तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो, उस कामको हम खराब मानते है। कितनी ही वार नुकसान करनेवालेकी ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमे तनिक भी हिचक नही होती। यह भी हो सकता है कि कितनी ही वार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्योका हेतु हम सदा देख नही सकते, इससे हम गलत परीक्षा किया करते है। फिर भी हेतुके प्रमाणमे कामकी परीक्षा करनेमें वाधा नही होती। कुछ बुरे कामोसे हमे लाभ होता है, फिर भी हम मनमे तो समझते ही है कि वे वुरे है।

अत. यह सिद्ध हुआ कि किसी कामके भले या बुरे होनेका आवार मनुष्यका स्वार्थ नही होता। उसकी इच्छाए भी इसका आधार नही होती। नीति और मनकी वृत्तिके वीच सदा सवध देखनेमें नही आता। वच्चेपर ममता होनेके कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते है, पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते है कि उसे देनेमे अनीति है। स्नेह दिखाना बेशक अच्छी वात है, पर नीति-

विचारके द्वारा उसकी हद न बांध दी गई हो तो वह विषरूप हो जाता है।

हम यह भी देखते है कि नीतिके नियम अचल है। मत बदला करते है, पर नीति नही बदलती। हमारी आंखे खुली हो तो हमे सूरज दिखाई देता है, बद हो तो नही दिखाई देता। इसमे हमारी निगाहमें हेर फेर हुआ, न कि सूरजके होनेमे। नीतिके नियमोके बारेमे भी यही समझना चाहिए। हो सकता है कि अज्ञान दशामे हम नीतिको न समझ सके। जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमे समझनेमें कठिनाई नही पडती। मनुष्य सदा भलेकी ओर ही निगाह रखे, ऐसा क्वचित् ही होता है। इससे अकसर स्वार्थकी दृष्टिसे देखकर अनीतिको नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी आनेको है जब मनुष्य स्वार्थका विचार त्यागकर नीति-विचारकी ओर ही ध्यान देगा। नीतिकी शिक्षा अभी बिलकुल बचपनकी अवस्थामे है। बेकन और डार्विनके पहले शास्त्र-की जो स्थिति थी वही आज नीतिकी है। लोग सच्चा क्या है उसे देखनेको उत्सुक थे। नीतिके विषयको समझनेके बदले वे पृथ्वी आदिके नियमोंकी खोजमे लगे हुए थे। ऐसे कितने विद्वान् आपको

दिखाई दिए है जिन्होने लगनके साथ कष्ट सहकर पिछले वहमोको एक ओर रखकर नीतिकी खोज मे जिदगी बिताई हो ? जब प्राकृतिक रहस्योकी खोज करनेवाले आदमियोकी तरह वे नीतिकी खोज-करनेमे तल्लीन रहे तब हम यह माने कि अब नीति-विषयके विचार इकट्ठे किये जा सकते है। शास्त्र या विज्ञानके विचारोके विषयमे आज भी विद्वानोमे जितना मतभेद रहता है उतना नीतिके नियमोके विषयमे होना मुमकिन नही। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसेतक हम नीतिके नियमोके विषयमें एक राय न रख सके, पर उसका अर्थ यह नही है कि हम खरे-खोटेका भेद नही समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्योकी इच्छासे अलग नीतिका कोई नियम है, जिसे हम नीतिका नियम कह सकते है। जब राजनैतिक विषयोमे हमे नियम-कानून दरकार है तब क्या हमे नीतिके नियमोका प्रयोजन नहीं है, भले ही वह नियम मनुष्य लिखित न हो ? वह मनुष्य लिखित होना भी न चाहिए। और अगर हम नीति-नियमोका अस्तित्व स्वीकार करे तो जैसे हमे राजनैतिक नियमोके अधीन रहना पडता है वैसे ही नीतिके नियमोके

अधीन रहना भी हमारा कर्त्तव्य है। नीतिके नियम राज-नैतिक और व्यावसायिक नियमोसे अलग तथा उत्तम है। मुझसे या दूसरे किसीसे यह नही बन सकता कि व्यावसायिक नियमोंके अनुसार न चलकर मै गरीब बना रहूं तो क्या हुआ ?

यों नीतिके नियम और दुनियादारी नियमके बीच भारी भेद है, क्योकि नीतिका वास हमारे हृदयमे है। अनीतिका आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा—झूठा सच्चा कभी नही हो सकता। और जहां जन-समाज बहुत दुष्ट हो वहा भी लोग नीतिके नियमोका पालन न करते हो तो भी पालनका ढोग करेंगे, अर्थात् नीतिका पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियोंको भी कबूल करनी पडती है। ऐसी नीतिकी महिमा है। इस प्रकारकी नीति रीति-रिवाज या लोकमतकी परवा नही करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहांतक नीतिके नियमका अनुसरण करता दिखाई दे वहीतक नीतिमान् पुरुषको वह बंधनकारक है।

ऐसा नीतिका नियम कहांसे आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढता नही, क्योकि भिन्न-भिन्न राज्योंमे जुदा-जुदा कानून-कायदे देखनेमें आते है।

सुकरातके जमानेमे, जिस नीतिका अनुसरण वह करता था, बहुतसे लोग उसके विरुद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अंग्रेजी कवि रावर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनियामें द्वेष और झूठकी दुहाई फिरा दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। इसपरसे यह कह सकते है कि नीतिके नियम सर्वोपरि है और ईश्वरीय है।

ऐसे नियमका भंग कोई प्रजा या मनुष्य अततक नही कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अतमें उड़ जाता है वैसे ही अनीतिमान् पुरुषका भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोनमें अनीतिका घड़ा भरा नही कि तत्काल फूट गया। रोमने जब अनीतिका रास्ता पकडा तब उसके महान् पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीसकी जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीतिको टिका न सकी। फ्रांसमे विप्लव हुआ, वह भी अनीतिके ही विरोधमे। वैसे ही अमरीकामे भला वेडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दीपर बैठी हो तो भी टिकनेकी नही। नीतिके इस अद्‌-भुत नियमका मनुष्य जो पालन करता है वह ऊपर

उठता है, जो कुटुम्ब पालन करता है वह बना रह सकता है और जिस समाजमे उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है। जो प्रजा इस उत्तम नियमका पालन करती है वह सुख, स्वतंत्रता और शांतिको भोगती है।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता

मन तुहि तुहिं बोलेरे, आसुपना जेवु तन तारू,
अचानक उड़ीजाशे रे, जेम देवतामा दारू।
झाकळ जळपळमां वळीजाशे, जेम कागळने पाणी;
काया वाडी तारी एम करमाशे, थइ जाशे धूळधाणी।
पाछळथी पस्ताशेरे, मिथ्या करी मारूं मारू।
काचनो कुंपो काया तारी, वणसतां न लागे वार।
जीवकायाने सगाई केटली, मूकी चाले वनमोझार,
फोकट फुल्या फरवुंरे, ओचिन्तु थाशे अघारू।
जायुं ते तो सर्व जवानुं, उगरवानो उधारो,
देव, गाधर्व, राक्षसने माणस सउने मरणनो वारो।
आशानो महेल उंचोरे, नीचुं आ काचुं कारभारुं।
चचल चित्तमां चेतीने चालो, भाळो हरिनु नाम,
परमारथ जे हाथे ते साथे करो रहेवानो विश्राम।
धीरो धराधरथीरे कोई न थी रहेनारुं..मन०

—काव्यदोहन

भावार्थ—मन, यह तेरा तन सपनेके जैसा है। अचानक इस तरह उड़ जायगा जैसे आगमे डाली

हुई शराव। ओसका पानी पलमें उड़ जायगा कागजपर पानीके समान। उसी प्रकार तेरी कायारूप ज्ञाड़ी सूखकर नष्ट हो जायगी। पीछे पछतायगा। तू व्यर्थ 'मेरा' 'मेरा' करता है। तेरी काया शीशेकी कुप्पी जैसी है, उसके नष्ट होते देर न लगेगी। जीव और देहका नाता ही कितना? एक दिन जीव उसे तजकर चल देगा। इस जीवनपर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जायगा। जो जन्मा है वह सभी जानेवाला है, इसमेंसे बचना कठिन है। देवता, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य सबके मरणका दिन नियत है। आशाका महल ऊंचा और इस दुनियाका कच्चा कारबार नीचा है। तू चंचल चित्तमें चेतकर चल और भगवानका नाम ले। जो परमार्थ कमा लेगा वही साथ जायगा। ऐसा ठिकाना पानेका उपाय कर, जहां तेरी आत्माको विश्राम मिले। 'धीरो' (भगत) कहता है कि इस पृथ्वीसे ऊपर कोई नहीं रहनेवाला है।

: ५ :

नीतिमें धर्मका समावेश है ?

इस प्रकारका विषय कुछ विचित्र माना जायगा आम खयाल यह है कि नीति और धर्म दो अलग चीज हैं। फिर भी इस प्रकरणका उद्देश्य नीतिको धर्म मानकर विचार करना है। इससे कितने ही पाठक ग्रंथकारको उलझनमें पड़ा हुआ मानेंगे। जो मानते हैं कि नीतिमें धर्मका समावेश नही होता और जो यह मानते है कि नीति हो तो धर्मकी आवश्यकता नही है, दोनो पक्ष यह आरोप करेंगे। फिर भी नीति और धर्ममें निकट संबंध है, यह दिखाना ग्रंथकारका निश्चय है। नीतिधर्म या धर्मनीतिका प्रसार करने-वाले मंडल भी धर्मको नीतिद्वारा मानते हैं।

यह बात स्वीकार करनी होगी कि सामान्य विचारमें नीतिके बिना धर्मकी स्थिति सभव है। ऐसे बहुतेरे दुराचरणी पुरुष देखनेमें आते हैं जो अघोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होनेका गर्व रखते हैं। इसके विपरीत स्व० मि० ब्रेडला जैसे नीति-मान पुरुष पडे हैं जो अपने आपको नास्तिक कहनेमें गर्व अनुभव करते है और धर्मका नाम सुनकर

भागते है। ये दोनो मतवाले मनुष्य भूल करते है और पहले मतवाले तो भूले ही नही है, धर्मके बहाने अनीतिका आचरण कर खतरनाक भी हो गए है। इसलिए इस प्रकरणमे मै यह दिखाऊगा कि बुद्धि और शास्त्र दोनोके द्वारा देखनेसे नीति और धर्म एक ही दिखाई देते है और उन्हे एक जगह रहना भी चाहिए।

पुरानी नीति केवल ससारी थी, यानी लोग यह सोचकर व्यवहार करते थे कि हम इकट्ठे रहकर कैसे निभा सकते है। यो करते-करते जो भली रीति थी वह कायम रही और बुरी रीति नष्ट हो गई। बुरी नीति नष्ट न होती तो उसके अनुसार चलनेवालो हीका नाश हो जाता। ऐसा होना हम आज भी देख रहे है। जो अच्छे रिवाज आदमी जाने-अनजाने चलाया करता है वह न नीति है और न धर्म। फिर भी दुनियामे जो काम नीतिके अदर आते है वे ऊपर वतलाये हुए भले रिवाज ही है।

फिर धर्मकी कल्पना भी अकसर मनुष्यके मनमे महज ऊपर-ऊपरसे ही रहती है। कितने ही समय हम अपने ऊपर आते हुए खतरोको दूर करनेके लिए कोई धर्म मानते है। यो भयसे या प्रीतिसे किये गए कार्यको धर्म मानना भूल है।

पर अतमे ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य संकल्प-पूर्वक सोच-विचारकर नफा हो या नुकसान, वह मरे या जिए, दृढ़ निश्चयके साथ अपना सर्वस्व होमनेको तैयार रहकर नीतिके रास्तेपर चलता और बिना मुह पीछे किए कदम बढाता जाता है। तब माना जायगा कि उसपर नीतिका रग चढा।

ऐसी नीति धर्मके सहारेके बिना कैसे टिकेगी ? दूसरे आदमीका थोडासा नुकसान करके अपना कुछ लाभ कर सकू तो मै वह नुकसान क्यो न करू ? दूसरे-की हानि करके होनेवाला लाभ लाभ नही, हानि है। यह घूट मेरे गलेसे कैसे उतरे ? बिस्मार्कने ऊपरसे देखनेमे जर्मनीका हित करनेके लिए अति.भयानक कर्म किए। उसकी शिक्षा कहा चली गई ? सामान्य समयमे बच्चोंके साथ वह नीतिके वचनोकी जो बकवास करता था वे वचन कहा गुम हो गए ? उनको याद करके उसने नीतिका पालन क्यो नही किया ? इन सारे प्रश्नोका उत्तर स्पष्ट रीतिसे दिया जा सकता है। ये सारी अडचनें आईं और नीति नही पाली गई, इसका कारण यही है कि इस नीतिमें धर्म नही समाया हुआ था। नीति रूपी बीजको जबतक धर्म-रूपी जलका सिंचन नही मिलता तबतक उसमे अंकुर

नही फूटता। पानीके विना वह वीज सूखा ही रहता है और लवे अरसेतक पानी न पाए तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीतिमे सच्चे धर्मका समावेश होना चाहिए। इसी वातको दूसरी रीतिसे यों कह सकते है कि धर्मके विना नीतिका पालन नही किया जा सकता, यानी नीतिका आचरण धर्मरूपमे करना चाहिए :

फिर हम यह भी देखते है कि दुनियाके वडे धर्मोमे जो नीतिके नियम वताये गए है वे अधिकांशमे एक ही है और उन धर्मोके प्रचारकोने यह भी कहा है कि धर्मकी वुनियाद नीति है। नीवको खोद डालिए तो घर अपने आप ढह जायगा। वैसे ही नीतिरूपी नीव टूट जाय तो धर्मरूपी इमारत भी दो-चार दिनमे ही भूमिसात हो जायगी।

ग्रथकार यह भी वताता है कि धर्म और नीतिको एक कहनेमे कोई अडचन नही है। डाक्टर क्वाइट इवादतमे यह कहता है—"या खुदा, नीतिके सिवा मुझे दूसरा खुदा न चाहिए।" हम जरा सोचे तो देखेंगे कि हम मुहसे तो खुदा या ईश्वरको पुकारे और वगलमे खंजर छिपाये रखे—'मुखमे राम वगलमे छुरी'को चरितार्थ करे तो क्या खुदा या ईश्वर हमारी

फरियाद सुनेगा ? एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओको तोड़ता है, दूसरा नामसे तो ईश्वरको नही पहचानता, पर अपने कामसे उसको भजता है और ईश्वरीय नियमोमें उनके कर्त्ताको देखता है और देखकर उसके कानूनोंका पालन करता है—इन दोनोंमें हम किसे धर्मवान और नीतिमान माने ? इस सवालका जवाब देनेमे हम क्षणभर भी सोचे-बिचारे बिना पक्के तौरपर कह सकते है कि दूसरा आदमी धर्मवान् और नीतिमान माना जायगा।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता—

प्रभु प्रभु पूछत भवगयो भई नहि प्रभु पिछान (पहचान);
खोजत सारा जग फीरो (फिर्यो) मिले न श्री भगवान्।
सहस्र (स) नाम से सोचकी एक न मिलो जवाब,
जप तप कि(की)ना जन्म तक (भर) हरी हरी (हरि हरि)—
गी(गि)ने हिसाब ॥
साधु-संतो(सन्त)को संग किनो वेद-पुरान अभ्यास;
फिर वी(भी) कछु दर्शन नहि (नहीं), पायो प्राण उदास।
कहोजी प्रभु अब क्युं(क्यो) मिले सोचुं(चूं) जीकु(को) आज;
जन्म जुदाई यह भई कछु नहिं सुझत इलाज।
अंतर्यामी तब कहे "क्युं तुं (क्यो तू) होवे कृतार्थ ?
प्रभु बकवत[1] फोकट[2] फिरे निसि-दिन ढुंढत (ढूढत) स्वार्थ,"

---

[1] प्रभुके नामका बकवास रटता हुआ; [2] व्यर्थ

मुख 'प्रभु' नाम पुकारता, अंतरमें अहकार;
वभी ऐसे दंभसे, दि(दी)नानाथ मिलनार[1] ?
ठगविद्या मं (में) निपुण भयो, प्रथम ठगे मा-बाप,
सकल जगत कु(को) ठगत तु(तू), अंत ठग रह्यो आप ।
सुनते शुद्ध बुद्ध (सुध वुध) खुल गई, प्रकट्यो पश्चाताप;
उलट पुलट करीने (करके) गयो, आपहि खायो थाप ।[2]

—वहरामजी मलवारी

: ६ :

नीतिके विषयमें डार्विन[1]के विचार

जो भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छासे ही करना इसीमे हमारी भलमनसी है । आदमीकी

---

[1] मिलनेवाले, [2] थप्पड, गुजरातीमें इस शब्दका अर्थ धोखा भी होता है।

[1] डार्विन पिछली सदीमें एक महान् यूरोपीय हो गया है। उसने शास्त्रकी महती खोजें की है। उसकी स्मरणशक्ति और अवलोकनशक्ति बडी जवर्दस्त थी। उसने कितनी ही पुस्तकें लिखी है, जो अति पठनीय और मननीय हैं। उसने वहुतसी मिसालों और दलीलोंसे यह दिखाया है कि आदमीकी आकृतिकी उत्पत्ति एक तरहके वदरोंसे हुई है। यानी वहुत तरहके प्रयोग और वहुतसी जाच-पडताल करते हुए उसे यह दिखाई दिया कि आदमीकी शकल और बदरकी शक्लमें वहुत फर्क नहीं है। यह

शराफतकी सच्ची पहचान यह है कि वह पवनके प्रवाहसे इधर-उधर भटकते हुए बादलोंकी तरह धक्का खानेके बजाय अपनी जगहपर अचल रहे और जो उसे उचित जान पड़े वह करे और कर सके।

यह होते हुए भी हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है यह हमे जान लेना चाहिए। हम जानते है कि हम हर तरहसे अपने मालिक खुद नही है हमसे बाहरकी कितनी ही स्थितिया है जिनका अनुसरण करते हुए हमें चलना होता है। जैसे जिस देशमे हिमप्रदेशकी-सी ठड पडती है वहा हमारी इच्छा हो या न हो फिर भी शरीरको गरम रखनेके लिए हमे कायदेसे कपडे पहनने ही पड़ते है। यानी हमे समभदारीके साथ व्यवहार करना पडता है।

तब सवाल यह उठता है कि अपनी बाहरकी और आसपासकी परिस्थितिको देखते हुए हमे नीतिके अनुसार आचरण करना पडता है या नही, अथवा हम

खयाल सही है या नहीं, इससे नीतिके विषयका कुछ बहुत नजदीकका संबंध नहीं है। पर डार्विनने ऊपर लिखा विचार प्रकट करनेके साथ-साथ यह भी जताया है कि नीतिके विचार मानव-जातिपर क्या असर डालते है। और डार्विनने जो कुछ लिखा है उसपर बहुतेरे विद्वानोकी श्रद्धा है, इसलिए डार्विनके विचारोपर यह प्रकरण लिखा है।

हम इस बातकी कोई परवा नही कर पा रहे है कि हमारे बरतावमें नीति है या अनीति ।

इस प्रश्नपर विचार करते हुए डार्विनके मत की जांच-पडताल करना जरूरी होता है। डार्विन यद्यपि नीतिके विषयपर लिखनेवाला पुरुष न था, फिर भी उसने बता दिया है कि बाहरकी वस्तुओं-के साथ नीतिका लगाव कितना गहरा है। जो लोग यह सोचते है कि मनुष्य नीतिका पालन करते है या नही, इसकी परवा हमे नही करनी है और दुनियामे केवल शारीरिक तथा मानसिक बल ही काम आता है, उन्हे डार्विनके ग्रंथ पढने चाहिए। डार्विनके कथनानुसार मनुष्यो और दूसरे प्राणियोमे भी जीते रहनेका लोभ रहता है। वह यह भी कहता है कि जो इस संघर्षमे जीवित रह सकता है वही विजयी माना जाता है और जो योग्य नही है वह जड़मूलसे नष्ट हो जाता है, पर इस सघर्षके मुकाबलेमे हम केवल शरीर बलसे टिक नही सकते ।

हम आदमी, भैस और रीछकी तुलना करे तो मालूम होगा कि शरीर-बलमे रीछ या भैस आदमीसे बढ़े हुए है और आदमी उनमेसे किसीके साथ कुश्ती लडे तो हार जायगा; पर यह बात होते हुए भी

अपनी बुद्धिकी बदौलत वह उनसे अधिक बली है। ऐसी ही तुलना हम मानव-जातिकी जुदा-जुदा कौमोंके बीच कर सकते हैं। युद्धकालमे जिसके पास अधिक बल या अधिक संख्या वाले आदमी हों वही जीते, ऐसा नही होता, बल्कि जिसके पास कला-कौशलका बल और अच्छे नेता होते हैं वह जाति अल्पसंख्यक या शरीर-बलमे कम हो तो भी विजयी होती है, यह दृष्टांत हमने बुद्धिबलका देखा।

'डार्विन हमे यह बताता है कि नीतिबल शरीरबल और बुद्धिबल दोनोसे बढकर है और योग्य मनुष्य अयोग्यसे अधिक टिक सकता है। इस बातकी सच्चाई हम अनेक रूपोंमे देख सकते हैं। कितने ही लोग यह मानते हैं कि डार्विनने तो हमें यही सिखाया है कि जो शूर है और शरीरबलमें भरपूर है वही अंतमें पार लगता है। और यो ऊपर-ऊपरसे ही विचार करनेवाले लेभग्गू आदमी मान लेते है कि नीति हमारे लिए बेकार चीज है। पर डार्विनका यह विचार बिलकुल न था। प्राचीन इतिहास तथा दंत-कथाओंसे यह देखा गया है कि जो जातियां अनीतिमान थी वे आज नामशेष हो गई है। सोडम और गमोराके लोग बडे दुराचारी थे। इससे ये देश मिट

गए। आज भी हम देख सकते है कि जो जाति या राष्ट्र अनीतिमान है उसका नाश होता जा रहा है।

अब हम कुछ मामूली मिसाले लेकर देखे कि साधारण नीति भी मानव-जातिकी सलामतीके लिए कितनी जरूरी है। शात स्वभाव नीतिका एक अग है। उसपरसे देखनेसे ऐसा जान पडेगा कि घमडी मनुष्य आगे बढ सकता है, पर थोड़ा विचार करके भी हम देख सकते है कि मनुष्यकी गर्वरूपी तलवार अतमें अपनेही गलेपर गिरती है। मनुष्य नशेका सेवन न करे, यह नीतिका दूसरा विषय है। आकडे देखनेसे विलायतमे यह देखनेमे आया है कि तीस बरसकी उम्रवाले शराबी और तेरह या चौदह बरससे अधिक नही जीते, पर निर्व्यसन मनुष्य ७० वरसकी आयु भोगता है। व्यभिचार न करना नीतिका तीसरा विषय है। डार्विनने बताया है कि व्यभिचारी मनुष्य बहुत जल्दी नाशको प्राप्त होता है। उसके सतान पहले तो होती ही नही और हो तो मरियल-सी दिखाई देती है। व्यभिचारी मनुष्यका मन हीन हो जाता है और ज्यो-ज्यों दिन बीतते है उसकी शक्ल पागलकी-सी होती जाती है।

जातियोकी नीतिका विचार करनेपर भी हमे

यही स्थिति दिखाई देगी। अडमन टापूके पुरुष अपनी स्त्रियोको, ज्योही बच्चे चलने-फिरने लायक हुए, त्याग देते है। अर्थात् परमार्थ बुद्धि दिखानेके बदले अत्यन्त स्वार्थ बुद्धिका परिचय देते है। नतीजा यह हुआ है कि उस जातिका धीरे-धीरे नाश होता जा रहा है। डार्विन बताता है कि पशुओमे भी एक हद-तक परमार्थ बुद्धि देखनेमे आती है। भीरु स्वभाव वाले पक्षी भी अपने बच्चोकी रक्षा करनेके समय बल-वान बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणिमात्रमे परमार्थबुद्धि थोड़ी बहुत भी न होती तो आज दुनियामे घासपात और जहरीली वनस्पतियोके सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियोमे सबसे बड़ा अतर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। दूसरोंके लिए अर्थात् अपनी नीतिके प्रमाणमे अपने बच्चोके लिए, अपने देशके लिए अपनी जान कुरबान करता आया है।

इस प्रकार डार्विन स्पष्ट रीतिसे बताता है कि नीतिबल सर्वोपरि है। ग्रीसकी जनता यूरोपकी आजकी जनतासे अधिक बुद्धिशाली थी, फिर भी जब उस जनताने नीतिका त्याग किया तब उसकी बुद्धि उसकी दुश्मन हो गई और आज

वह जाति देखनेमे भी नही आती। जातियाँ, प्रजाए न पैसेसे टिकती है न सेनासे। वे एकमात्र नीतिकी नीवपर ही टिक सकती है। अत मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है कि इस विचारको सदा मनमे रखकर परमार्थ-रूपी परम नीतिका आचरण करे।

: ७ :

नीति में सार्वजनिक कल्याण

अकसर यह कहा जाता है कि सपूर्ण नीतिमे सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीशमे अगर न्याय-वुद्धि हो तो जिन लोगोंको उसकी न्यायी अदालतमें जाना पडे वे सुखी होते है। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता, आदि गुण दूसरोसे साथ होनेपर ही प्रकट किये जा सकते है। वफादारीका वल भी हम एक दूसरेसे सवध होनेपर ही दिखा सकते है। स्वदेशाभिमानके विपयमे तो कहना ही क्या! वास्तविक स्थितिको देखनेसे यह दिखाई देगा कि नीतिका एक भी विपय ऐसा नही है जिसका फल अकेले नीतिका पालन करनेवालेको ही मिलता है। अकसर यह

कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणोका सामनेवाले मनुष्य, विपक्षीके साथ कोई लगाव नही होता। पर हम झूठ बोलकर किसीको ठगें तो उससे विपक्षीकी हानि होगी, यह बात हमें कबूल करनी होगी, तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलनेसे उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाजको नापसंद करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्यका असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार-लोकमे रहता है और विचारोंकी दुनिया अभी पैदा होनेको है। उसकी वह परवा नहीं करता। ऐसे आदमीके लिए प्रचलित व्यवहार नीति विशेषका अनादर करनेके लिए यह खयाल भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नही है। ऐसा आदमी सदा दूसरोको अपने विचारके अनुसार आचरण करानेके यत्नमें लगा रहेगा। ऐसे ही पैगंवरोने दुनियाके चक्रोंकी गति फेरी है।

मनुष्य जवतक स्वार्थी है अर्थात् वह दूसरोके सुखकी परवा नही करता तवतक वह पशु-सदृश, बल्कि उससे भी गयाबीता है। मनुष्य पशुसे श्रेष्ठ है यह हम देख सकते हैं; पर यह तभी होता है जब

हम उसे अपने कुटुम्बका बचाव करते देखते है। वह उस वक्त मानवजातिमे और ऊंचा स्थान पाता है जब अपने देश या अपनी जातिको अपना कुटुंब मानता है। जब सारी मानवजातिको वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपानपर चढ़ता है, अर्थात् मनुष्य मानव-जातिकी सेवामे जितना पीछे रहता है उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्रीके लिए, अपने बेटेके लिए मुझे दर्द हो, पर उससे बाहरके आदमीके लिए मेरे दिलमें दर्द न हो तो स्पष्ट है कि मुझे मानव-जातिके दु खकी अनुभूति नही है, पर स्त्री, बच्चे या कौम जिसको मैंने अपना मान रखा है उनके लिए भेदबुद्धि या स्वार्थबुद्धिसे कुछ दर्द होता है।

अत जबतक हमारे मनमें हरएक मानव-संतानके लिए दया न हो, तबतक हमने नीतिधर्मका पालन नही किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे है कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे सबंध रखनेवाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है यानी हम सदा उसकी सेवा करते रहे यह हमारा फर्ज है। हमे यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसीके ऊपर नही है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करनेवाला आदमी

इस दुनियाके रेलेमे पड़कर पिस जायगा। पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है; क्योंकि यह जगत्-प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक-निष्ठासे सेवा करनेवाले आदमीको खुदाने हमेशा बचा लिया है।

इस नीतिके पैमानेसें मनुष्यमात्र समान हैं। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरहका काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मैं ऊंचा पद-अधिकार भोगता हू तो उस पदकी जिम्मेदारी उठानेकी मुझमे शक्ति है। इससे मुझे गर्वसे इतराना न चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग जो छोटी जिम्मेदारी उठाते है मुझसे हेठे है। पूर्ण साम्य तो हमारे मनकी स्थितिपर अवलंबित होता है। जबतक हमारे मनकी यह स्थिति नही होती तबतक हम पिछड़े हुए हैं।

इस नियमके अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थके लिए दूसरी जाति या राष्ट्रपर राज्य नही कर सकता। अमरीकाकी गोरी जनताका वहांके मूल निवासियोको दबाकर उनपर हुकूमत करना, यह नीति विरुद्ध है। ऊची शिक्षा संस्कारवाली जातिका नीची जातिसे साबका पड़े तो उसका यह कर्त्तव्य होता

है कि उसको उठाकर अपने बराबर कर ले। इस नियमके अनुसार राजा प्रजापर हुकूमत करनेवाला नही, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगनेके लिए नही, बल्कि प्रजाको सुखी करनेके लिए होता है। प्रजातंत्र राज्यमे लोग स्वार्थी हों तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियमके अनुसार एक राज्यमे बसनेवाले या एक कौमके आदमियोमे जो बलवान हों उनका काम है दुर्बलोकी रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-व्यवस्थामे भूखो मरनेवाले नही हो सकते और न यही हो सकता है कि कुछ लोगोके पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाय, इसलिए कि हम अपने पडोसीका दु ख देखते रहे और सुखी रहे यह हो नही सकता। परम नीतिका अनुसरण करनेवाले आदमीसे धन बटोरनेका काम होनेवाला नही। ऐसी नीति दुनियामें थोडी दिखाई देती है, यह सोचकर नीतिमानको घबराना न चाहिए, क्योकि वह अपनी नीतिका मालिक है, उसके नतीजेका नही। नीतिका आचरण न करनेसे वह दोषी माना जायगा पर उनका असर जनसमाज पर न हो तो कोई उसको दोष नही दे सकता।

: ८ :

समाप्ति

"मै जिम्मेदार हूं," "यह मेरा फर्ज है," यह विचार मनुष्यको हिला देता है और अचभेमे डाल देता है। गैबी आवाजकी प्रतिध्वनि सदा हमारे कानमे पडा करती है—"मानव यह काम तेरा है। तुझे खुद हारना या जीतना है। तुझ जैसा तू ही है, क्योकि प्रकृतिने दो समान वस्तुएं कही बनाई ही नही। जो फर्ज तुझको अदा करना है वह तूने अदा न किया तो दुनियाके सालाना चिट्ठेमे घाटा रहा ही करेगा।"

यह फर्ज जो मुझे अदा करना है क्या है? कोई कहेगा कि :

> आदमको खुदा मत कहो, आदम ख़ुदा नहीं।
> लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।

और कहेगा कि इस पद्यके अनुसार मुझे यह मानकर कि मै खुदाका नूर हूं, चुपचाप बैठे रहना चाहिए। दूसरा आदमी कहेगा कि मुझे अपने आसपासके लोगोंके साथ हमदर्दी दिखाना, भाईचारा रखना चाहिए। तीसरा कहेगा कि मां-बापकी सेवा, बीबी बच्चोंका भरण-पोषण और भाई-बहन-मित्रोके साथ

उचित व्यवहार करना चाहिए। पर इन सभी गुणोंमें मैं खुद अपने प्रति भी उसी रीतिसे व्यवहार करूं, यह मेरे समस्त कर्त्तव्यका अंग है। जबतक मैं अपने आपको न पहचानूं तबतक दूसरेको कैसे पहचान सकूंगा? और जबतक पहचानूंगा नहीं तबतक उनका सम्मान कैसे कर सकूंगा? बहुतेरे यह मानने लगे हैं कि जिन बातोंका दूसरोसे संबंध होता हो उनमे तो हमें कायदेसे व्यवहार करना चाहिए, पर जबतक हमारे कामोका दूसरोसे संबंध न हो तबतक हम अपनी मर्जीके मुताबिक जैसे चाहे वैसे व्यवहार कर सकते हैं। जो आदमी ऐसा मानता हो वह बिना समझे बोलता है। दुनियामे रहकर कोई भी आदमी बिना अपनी हानि किये खुदमुख्तार या स्वच्छन्द होकर व्यवहार नही कर सकता।

अब हमने देखा कि हमारा फर्ज खुद हमारी अपनी तरफ क्या है। अव्वल तो हमारे एकातके आचरणकी खबर खुद हमारे सिवा दूसरोंको होती नही, ऐसे आचरणका असर दूसरोंपर होता है इसलिए हम जिम्मेदार होते है, इतना ही सोचना काफी नहीं है। उसका असर दूसरोपर होता है, इसलिए भी हम उसके जवाबदेह है। हर आदमीको चाहिए कि अपने

उत्साहको काबूमे रखे । एक महान् पुरुषका कहना है कि किसी भी आदमीका खानगी चाल-चलन मुझको बता दो, मै तुरंत बता सकता हूं कि वह आदमी कैसा होगा और है। ऐसे ही कारणोंसे हमारे लिए उचित है कि अपनी इच्छाओंको लगाम देकर रखे । यानी हमे शराब नही पीना चाहिए, पेटूकी तरह ठूस-ठूसकर नही खाना चाहिए, नही तो अतमे शक्तिहीन होकर हमे अपनी आबरू गंवानी होगी । जो आदमी विषय-मार्गसे दूर रहकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्राणकी रखवाली नही करता वह बाहरके कार्योमे सफलता नही पा सकता।

यो विचार करते हुए मनुष्य अपनी अतर्वृत्तियोको स्वच्छ रखकर सोचता है कि इन वृत्तियोंका क्या उपयोग करूं । जीवनमे कोई निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। हम जीवनके कर्त्तव्योकी खोज करके उनके पालनकी ओर मनका झुकाव न रखे तो हम बिना पतवारकी नावकी तरह भरे दरियामें डूबते-उतराते रहेंगे । हमारा ऊंचे-से-ऊंचा कर्त्तव्य यह है कि हम मानवजातिकी सेवा करे और उसकी स्थिति सुधारनेके यत्नमे योग दे । इसमे सच्ची ईश्वर स्तुति, सच्ची बंदगी आ जाती है। जो आदमी भगवानका काम करता है वह भगवानका

जन है, खुदाका वदा है। खुदाका नाम लेनेवाले ढोगी, धूर्त बहुतेरे दुनियामे विचरा करते है। तोता राम-राम कहना भी सीख लेता है इससे उसे कोई रामका भक्त, सेवक नही कहता। मनुष्यजातिको यथायोग्य स्थिति प्राप्त करानेका उद्देश्य हर आदमी अपने सामने रख और उसका अनुसरण कर सकता है। वकील ऐसे उद्देश्यसे वकालत कर सकता है, व्यापारी व्यापार कर सकता है। जो आदमी इस व्रतका पालन करता है वह कभी नीतिधर्मसे डिगता नही। उससे विचलित होकर मानवजातिको ऊपर उठानेका उद्देश्य पूरा किया ही नही जा सकता।

अब हम व्योरेवार विचार करे। हमे सदा यह देखते रहना पडता है कि हमारा आचरण सुधारकी ओर जा रहा है या बिगाड़की ओर। बनिज-व्यापार करनेवाला हरएक सौदा करते हुए इस बातका विचार करेगा कि मै अपने आपको या दूसरेको ठग तो नही रहा हू। वकील और वैद्य ऊपर बताई हुई नीतिका अनुसरण करते हुए मवक्किल और रोगीके हिताहितको अधिक सोचेगा। मां बच्चेका पालन करते हुए सदा यह डर मनमे रखकर चलेगी कि कही झूठे स्नेह या अपने दूसरे स्वार्थसे वह बिगड न जाय।

ऐसा विचार रखकर मजदूरी करनेवाला मजदूर भी अपने कर्त्तव्यका खयाल रखकर कार्य करेगा। इस सारे विवेचनका निचोड़ यह निकला कि मजदूर अगर नीति-नियमका पालन करते हुए अपने कर्त्तव्यका पालन करे तो वह अपने आचार-व्यवहारमे अपने आपको खुदमुख्तार माननेवाले धनी, व्यापारी, वैद्य या वकीलसे श्रेष्ठ माना जायगा। मजदूर खरा सिक्का है और व्यापारी, वकील आदि अधिक बुद्धि या अधिक पैसेवाले होते हुए भी खोटे सिक्के जैसे है। इस प्रकार हम फिर यह देख रहे है कि हर आदमी उपर्युक्त नियम निभानेमे समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थितिमे क्यो न हो। मनुष्यका मूल्य उसके चरित्र, उसके चाल-चलनपर आश्रित होता है, उसके पद-दरजेपर नही। उसके चरित्रकी परख उसके बाहरके कामोसे नही होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जानकर की जा सकती है। एक आदमी एक गरीबको अपनी नजरसे दूर करनेके लिए एक डालर देता है, दूसरा उसपर तरस खाकर, स्नेहसे आधा डालर देता है। इनमे आधा डालर देनेवाला नीतिमान है और पूरा डालर देनेवाला पापी है।

इस सारे विवेचनका सार यह निकला कि जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसीसे द्वेप नही करता,

किसीसे नाजायज फायदा नही उठाता, सदा पवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वही आदमी धार्मिक है, वही सुखी है और वही पैसेवाला है। मानव-जातिकी सेवा उसीसे बन सकती है। खुद दिया-सलाईमें आग न हो तो दूसरी लकड़ीको कैसे सुलगायेगी? जो आदमी खुद नीतिका पालन नही करता वह दूसरेको क्या सिखायेगा? जो खुद डूब रहा हो वह दूसरेको कैसे पार उतारेगा? नीतिका आचरण करनेवाला दुनियाकी सेवा किस तरह करनी होगी यह सवाल कभी उठाता ही नही, क्योंकि उसके लिए यह सवाल पैदा ही नही होता। मैथ्यू आरनाल्ड कहता है, "एक वक्त था जब मै अपने मित्रके लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति चाहा करता था। अब मै वैसी कामना नही करता। इसलिए कि मेरे मित्रका सुख-दुख उनके होने न होनेपर अवलंबित नही। इससे अब मै सदा यही मनाता हूं कि उसकी नीति सर्वदा अचल रहे।" इमर्सन कहता है कि भले आदमीका दुःख भी उसका सुख है और बुरेका तो पैसा, उसकी कीर्ति भी उसके और दुनियाके लिए दुःखरूप है।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता.

गर पादशाह[1] होकर अमल[2] मुल्को हुआ तो क्या हुआ ?
दो दिनका नरसिंगा बजा, भों भों हुआ तो क्या हुआ ?
गुलशोर मुल्क व माल[3]का कोसो हुआ तो क्या ?
या हो फकीर आज़ादके रंगो हुआ तो क्या हुआ ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (१)

दो दिन तो यह चर्चा हुआ, हाथी मिला हाथी मिला,
बैठा अगर होदे उपर[4] या पालकीमें जा चढ़ा,
आगे नक्कारा और निशां, पीछेको खोजोका परा[5],
देखा तो फिर इक आनमें, हाथी न घोड़ा न गधा।
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (२)

अब देख किसको शाद[6] हो और किस पै आंखें नम करे ?
यह दिल बिचारा एक है, किस किसका अब मातम करे ?
या दिलको रोवे बैठकर, या दर्द दुःखमें कम करे ?
यांका यही तूफान है अब किसको जूतो ग़म करे ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (३)

गर तू 'नजीर' अब मर्द है तो जालमें भी शाद हो,
दस्तार[7]में भी हो खुशी, रूमालमें भी शाद हो,
आजादगी भी देख ले, जंजालमें भी शाद हो,
इस हालमें भी शाद हो और उस हालमें भी शाद हो,
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (४)

---

[1] बादशाह [2] हुकूम[illegible]
[5] बेगमोंकी पालकियोंकी [illegible]
[6] प्रसन्न, खुश [7] प[illegible]

स र्वो द य

[रस्किनके 'अन्टु दिस लास्ट'का सार]

प्रस्तावना

पश्चिमके देशोमे साधारणत. यह माना जाता है कि बहुसख्यक लोगोका सुख—उनका अभ्युदय बढाना मनुष्यका कर्त्तव्य है। सुखका अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसेका सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करनेमें नीतिके नियम भग होते हो तो इसकी ज्यादा परवा नही की जाती। इसी तरह बहुसख्यक लोगोको सुख देनेका उद्देश्य रखनेके कारण पश्चिमके लोग थोड़ोको दु ख पहुचाकर भी बहुतोको सुख दिलानेमें कोई बुराई नही मानते। इसका फल हम पश्चिमके सभी देशोमें देख रहे है।

किंतु पश्चिमके कितने ही विचारवानोका कहना है कि बहुसख्यक मनुष्योके शारीरिक और आर्थिक सुखके लिए यत्न करना ही ईश्वरका नियम नही है और केवल इतनेहीके लिए यत्न करें और उसमें नैतिक नियमोका भग किया जाय यह ईश्वरीय नियमके विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगोमें विद्वान् अग्रेज स्वर्गीय जॉन रस्किन मुख्य थे। उन्होने कला, चित्रकारी आदि विषयोपर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी है। नीतिके विषयोपर भी उन्होने बहुत कुछ लिखा है। उसमेंसे एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहा-जहा अग्रेजी बोली जाती है वहा-वहा इस पुस्तकका बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताए विचारोका जोरोसे खडन किया गया है और दिखागा गया है कि नैतिक नियमोके पालनमें ही मनुष्य-जातिका कल्याण है।

आजकल भारतमें हम पश्चिमवालोकी बहुत नकल कर रहे है। कितनी ही बातोमें हम इसकी जरूरत भी समझते है, पर इसमें सदेह नही कि पश्चिमकी बहुत-सी रीतिया खराब है। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब है उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीकामें भारतीयोकी अवस्था बहुत ही करुणाजनक है। हम धनके लिए विदेश जाते है। उसकी धुनमें नीतिको, ईश्वरको भूल जाते है। स्वार्थमें सन जाते है। इसका नतीजा यह होता है कि हमें विदेशमें रहनेसे लाभके बदले उलटे बहुत हानि होती है अथवा विदेश-यात्राका पूरा-पूरा लाभ नही मिलता। सभी धर्मोमें नीतिका अश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धिसे देखा जाय तो भी नीतिका पालन आवश्यक है। जॉन रस्किनने सिद्ध किया है कि सुख इसीमें है। उन्होने पश्चिम-वालोकी आखें खोल दी है और आज यूरोप और अमरीकाके भी कितने ही लोग उनकी शिक्षाके अनुसार चलते है। भारतीय जनता भी उनके विचारोसे लाभ उठा सके, इस उद्देश्यसे हमने उक्त पुस्तकका इस ढगसे साराश देनेका विचार किया है कि जिससे अग्रेजी न जाननेवाले भी उसे समझ लें।

सुकरातने, मनुष्यको क्या करना उचित है इसे सक्षेपमें समझाया है। कह सकते है कि उसने जो कुछ कहा है, रस्किनने उसीका विस्तार कर दिया है। रस्किनके विचार सुकरातके ही विचारोंका विस्तृत रूप है। सुकरातके विचारोके अनुसार चलनेकी इच्छा रखनेवालोंको भिन्न-भिन्न व्यवसायोमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, रस्किनने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तकका सार दे रहे है, उल्था नहीं कर रहे है। उल्था कर देनेसे सभव है कि बाइबिल आदि ग्रथोके कितने ही दृष्टात पाठक न समझ पाए। हमने पुस्तकके नामका भी उल्था नही किया है, क्योकि उसका मतलब भी वही पा सकते है जिन्होने अग्रेजीमें बाइबिल पढी है, परतु उसके लिखे जानेका उद्देश्य सबका कल्याण सबका (केवल अधिकाशका नही) उदय, उत्कर्ष होनेके कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

—मो० क० गांधी

सर्वोदय

: १ :

सचाईकी जड़

मनुष्य कितनी ही भूले करता है, पर मनुष्योकी पारस्परिक भावना—स्नेह, सहानुभूतिके प्रभावका विचार किये विना उन्हे एक प्रकारकी मशीन मानकर उनके व्यवहारके गढ़नेसे बढ़कर कोई दूसरी भूल नही दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलोमे ऊपर-ऊपरसे देखनेसे कुछ सचाईका आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमोके विषयमे भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनानेवाले कहते है कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकारकी भावना मनुष्यकी साधारण प्रकृतिकी गतिमे बाधा पहुंचानेवाली मानी जानी चाहिए; परतु लोभ और आगे बढनेकी इच्छा सदा बनी रहने-वाली वृत्तियां है। इसलिए आकस्मिक वस्तुसे दूर

रखकर मनुष्यको पैसा बटोरनेकी मशीन मानते हुए केवल इसी बातपर विचार करना चाहिए कि किस प्रकारके श्रम और किस तरहके लेन-देनके रोजगारसे आदमी अधिक-से-अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरहके विचारोके आधारपर व्यवहारकी नीति निश्चित कर लेनेके बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिसे काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाए ।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिका जोर लेन-देनके नियम-जैसा ही होता तो ऊपरकी दलील ठीक कही जा सकती थी । मनुष्यकी भावना उसके अदरका बल है और लेन-देनका कायदा एक सासारिक नियम है। अर्थात् दोनो एक प्रकार, एक वर्गके नही है। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओरसे स्थायी शक्ति लग रही हो और दूसरी ओरसे आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्तिका अदाजा लगायगे, बादको आकस्मिकका। दोनोका अंदाजा मिल जानेपर हम उस वस्तुकी गतिका निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनो शक्तिया एक प्रकारकी है, परतु मानव-व्यवहारमे लेन-देनके

स्थायी नियमकी शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनो भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। भावना-का असर दूसरे ही प्रकारका दूसरी ही तरहसे पडता है, जिससे मनुष्यका रूप ही वदल जाता है। इसलिए वस्तुविशेषकी गतिपर पड़नेवाली भिन्न-भिन्न शक्तियोके असरका हिसाव जिस तरह हम साधारण जोड-वाकीके नियमसे लगाते है उस तरह भावनाके प्रभावका हिसाव नही लगा सकते। मनुष्यकी भावनाके प्रभाव-की जांच-पडताल करनेमे लेन-देन, खरीद-बिक्री या माग और उत्पत्तिके नियमका ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्रके नियम गलत है, यह कहनेका कोई कारण नही। यदि व्यायाम-शिक्षक यह मान ले कि मनुष्यके शरीरमे केवल मांस ही है, अस्थि-पंजर नही है और फिर नियम वनाए तो उसके नियम ठीक भले ही हो, पर वे अस्थि-पजरवाले मनुष्यके लिए लागू नही हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्रके नियम ठीक होनेपर भी भावनासे वधे हुए मनुष्यके लिए लागू नही हो सकते। यदि कोई कसरतवाज कहे कि मनुष्यका मांस अलग कर उसकी गेदे बनाई जा सकती है, उसे खीचकर उसकी डोरी वना सकते

है और फिर यह भी कहे कि उस मासमे पुन अस्थि-पजर घुसा देनेमे क्या कठिनाई है, तो हम निस्सदेह उसे पागल कहेगे, क्योकि अस्थिपजरसे मासको अलग-कर व्यायामके नियम नही बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्यकी भावनाकी उपेक्षा करके लौकिक शास्त्रके नियम बनाये जाय तो वे उसके लिए बेकार है। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहारके नियमोके रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षकके ही ढगपर चलते है। उनके हिसाबसे मनुष्य, उसका शरीर, केवल कल है और इसी धारणाके अनुसार वे नियम बनाते है। वे जानते है कि उसमे जीव है, फिर भी वे उसका विचार नही करते। इस प्रकारके नियम मनुष्यपर, जिसमें जीव—आत्मा—रूहकी प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते है ?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नही है। जब-जब हडताले होती है तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते है कि वे बेकार है। उस वक्त मालिक कुछ और सोचते है और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देनका एक भी नियम लागू नही कर सकते। लोग यह दिखानेके लिए खूब माथा-पच्ची करते है कि नौकर और मालिक दोनोका स्वार्थ एक ही ओर होता है, परतु इस समयमे

वे कुछ नही समझते । सच तो यह है कि एक-दूसरेका सांसारिक स्वार्थ—पैसेका—एक न होनेपर भी एक-दूसरेका विरोधी होना या बने रहना जरूरी नही है। एक घरमे रोटीके लाले पड़े है । घरमें माता और उसके बच्चे है। दोनोको भूख लगी है। खानेमें दोनोके—माता और बच्चेके—स्वार्थ परस्परविरोधी है। माता खाती है तो बच्चे भूखो मरते है और बच्चे खाते है तो मा भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चोमे कोई विरोध नही है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटीके टुकडेको खुद नही खा डालती। ठीक यही बात मनुष्यके परस्परके सबधके विपयमे भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देरके लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशुमे कोई अतर नही है। हमे पशुओकी तरह अपने-अपने स्वार्थके लिए लडना ही चाहिए। तब भी यह बात नियमरूपमे नही कही जा सकती कि मालिक और नौकरके बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्थाके अनुसार इस भावमें परिवर्त्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम' मिलनेमे तो दोनोका स्वार्थ है, परतु नफेके बटवारेकी दृष्टिसे देखनेपर यह हो सकता है

कि जहा एकका लाभ हो वहा दूसरेकी हानि हो। नौकरको इतनी कम तनखाह देनेमे कि वह सुस्त और निरुत्साह रहे, मालिकका स्वार्थ नही सधता। इसी तरह कारखाना भलीभाति न चल सकता हो तो भी ऊची तनखाह मागना नौकरके स्वार्थका साधक नही है। जब मालिकके पास अपनी मशीनकी मरम्मत करानेको भी पैसे न हो तब नौकरका ऊची तनखाह मागना स्पष्टत अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते है कि लेन-देनके नियमके आधारपर किसी शास्त्रकी रचना नही की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धनकी घटती-बढतीके नियमपर मनुष्यका व्यवहार नही चलना चाहिए। उसका आधार न्यायका नियम है, इसलिए मनुष्यको समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेनेका विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकारसे आचरण करनेपर अतमे क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नही बतला सकता, परतु अमुक काम न्यायसगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्राय सदा जान सकते है। हम यह भी कह सकते है कि नीति-पथपर चलनेका फल अच्छा ही होना

चाहिए। हा, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नही कह सकते।

नीति-न्यायके नियममे पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिका समावेश हो जाता है और इसी भावनापर मालिक-नौकरका सबध अवलबित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरोसे अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हे जरा भी दम नही लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियोमें रखता है। सार यह कि वह उन्हे इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीरमे रख सके। कुछ लोग कह सकते है कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नही करता। नौकरने निश्चित तनखाहमे अपना सारा समय मालिकको दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकोको देखकर निश्चित करता है। नौकरको अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेनेकी उसे स्वतत्रता है। इसीको लेन-देनका नियम बनानेवाले अर्थशास्त्र कहते है और उनका कहना है कि इस तरह कम-से-कम दाममे अधिक-से-अधिक काम लेनेमे मालिकको लाभ होता है और अंतमे इससे नौकरको भी लाभ ही होता है।

विचार करनेपर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नही है। नौकर अगर मशीन या कल होता और उसे चलानेके लिए किसी विशेष प्रकारकी ही शक्तिकी आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था, परतु यहा तो नौकरको सचालित करनेवाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्माका बल तो अर्थशास्त्रियोके सारे नियमोपर हडताल फेर देता है—उन्हे गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीनमें धनरूपी कोयला झोककर अधिक-से-अधिक काम नही लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकती है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाए। (नौकर और मालिकके बीच धनका नही, प्रीतिका बंधन होना चाहिए।)

प्राय देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबावके कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकरका काम जितना होना चाहिए उतना नही होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिए जायं तो हम देखेंगे कि सहानुभूतिवाले मालिकका नौकर सहानुभूतिरहित

मालिकके नौकरकी अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते है कि यह नियम ठीक नही; क्योकि स्नेह और कृपाका बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ जाता है; पर यह दलील ठीक नही है। जो नौकर स्नेहके बदले लापरवाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिकसे द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिकके साथ जो नौकर बददयानती करता है वह अन्यायी मालिकका नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमीके साथ परोपकारकी दृष्टि रखनेसे परिणाम अच्छा ही होता है। यहा हम सहानुभूतिको एक प्रकारकी शक्ति मानकर ही उसपर विचार कर रहे है। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए—यह बिलकुल जुदी बात है और यहा हम उसपर विचार नही कर रहे है। यहां तो हमे केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्रके साधारण नियमोको, जिन्हे हम अभी देख चुके है, स्नेही सहानुभूतिरूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नही, यह एक भिन्न प्रकारकी शक्ति होनेके कारण अर्थशास्त्रके अन्यान्य नियमोके साथ

उसका मेल नही बैठता। वह तो उन नियमोंको उठाकर अलग रख देनेपर ही टिक सकती है। यदि मालिक काटेका तौलका हिसाब रक्खे और बदला मिलनेकी आशासे ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पडे। स्नेह स्नेहके लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना मागे अपने आप ही मिल जाता है। कहते है जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायकका उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्रके नियमोका प्रयोग कर अपनी सेनाके सिपाहियोसे काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टात मिलते है कि जिस सेनाका सरदार अपने सिपाहियोसे घनिष्टता रखता है, उनके प्रति स्नेहका व्यवहार करता है, उनकी भलाईसे प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुखमे शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है—सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणोमे हम देखते है कि जहां सिपाही अपने सेनानायकसे मुहब्बत नही रखते थे

वहा युद्धमे कही-कही ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकोके बीच स्नेह-सहानुभूतिका बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरोके दलोमे भी पाई जाती है। डाकुओका दल भी अपने सरदारके प्रति पूर्ण स्नेह रखता है, लेकिन मिल आदि कारखानो-के मालिको और मजदूरोमे हमे इस तरहकी घनिष्ठता नही दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरहके कारखानेमे मजदूरोकी तनखाहका आधार लेन-देनके, माग और प्राप्तिके नियमोपर रहता है, इसलिए मालिक और मजदूरोके बीच प्रीतिके बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूतिकी जगह उनके सबधमे विरोध, प्रतिद्वद्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्थामे हमे दो प्रश्नोपर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांगका और प्राप्तिका विचार किए बिना नौकरोकी तनखाह किस हदतक स्थिर की जा सकती है ?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारोमे मालिक-नौकरोका या सेनापति और सिपाहियोका स्थायी सबंध होता है, उसी तरह कारखानोमे बराबर कैसा ही समय आनेपर भी नौकरोकी नियत संख्या,

कमी-वेशी किए विना, किस तरह रक्खी जा मकती है ?

पहले प्रश्नपर विचार करे। आश्चर्यकी बात है कि अर्थशास्त्री इसका उपाय नही निकालते कि कारखानेके मजदूरोकी तनखाहकी एक दर निश्चित हो जाए। फिर भी हम देखते है कि इग्लैडके प्रधानमत्री-का पद बोली बुलवाकर बेचा नही जाता। उस पदपर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (विशप)के पदपर नही वैठाते। डाक्टरो और वकीलोके साथ भी साधारणत इस तरहका सबध नही रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते है कि उक्त उदाहरणमे हम बधी उजरत ही देते है। इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूरकी उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तवमे होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सको और वकीलो-की फीस एक ही होनेसे अच्छे वकील-डाक्टरोके ही पास जाते है, उसी तरह सब मजदूरोकी मजदूरी एक ही होनेपर हम लोग अच्छे राज और बढईसे ही काम लेना पसद करेगे। अच्छे कारीगरका इनाम

यही है कि वह कामके लिए पसद किया जाए । इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतनकी दर निश्चित हो जानी चाहिए । जहां अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिकको धोखा दे सकता है वहा अतमे बुरा ही परिणाम होता है ।

अब दूसरे प्रश्नपर विचार करे। वह यह है कि व्यापारकी चाहे जैसी अवस्था हो, कारखानेमे जितने आदमियोको आरंभमे रक्खा हो उतनेको सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियोको अनिश्चित रूपसे काम मिलता है तब उन्हे ऊची तनखाह मांगनी ही पडती है, कितु यदि उन्हे किसी तरह यह विश्वास हो जाए कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाहमे काम करेगे । इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियोको स्थायी रूपसे नौकर रखता है उसे अतमे लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते है उन्हे भी लाभ होता है। ऐसे कारखानोमे ज्यादा नफा नही हो सकता। वे कोई बड़ी जोखिम नही ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नही कर सकते। सिपाही सेनापति-की खातिर मरनेको तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरीके पेशेसे ज्यादा इज्जतकी चीज

मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाहीका काम कत्ल करनेका नही, बल्कि दूसरोकी रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जानेका है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्यको सौप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरीके सबधमे भी मानते है, इसलिए उन्हे आदरकी दृष्टिसे देखते है। वकीलको अपने प्राण निकलनेतक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्यको अनेक सकट सहकर भी अपने रोगीका उपचार करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशकको चाहिए कि उसपर कुछ भी क्यो न बीते; पर अपने समुदाय-वालोको ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशोमे ऐसा हो सकता है तो व्यापारमे क्यो नही हो सकता ? आखिर व्यापारके साथ अनीति-का नित्यका सवध मान लेनेका क्या कारण है ? विचार करनेसे दिखाई देता है कि व्यापारी सदाके लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारीका काम भी जनताके लिए जरूरी है, पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टिसे बनाये जाते है कि व्यापारी झपाटेके साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी

जहांतक हो सके अधिक मागे और ले। लोगोंने खुद ही व्यापारमे ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बेईमानीके कारण नीची निगाहसे देखते है। इस प्रथाको बदलनेकी जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारीको अपना स्वार्थ ही साधना —धन ही बटोरना चाहिए। इस तरहके व्यापारको हम व्यापार न कहकर चोरी कहेगे। जिस तरह सिपाही राज्यके सुखके लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी-को जनताके सुखके लिए धन गवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्योमे—

सिपाहीका पेशा जनताकी रक्षा करना है,
धर्मोपदेशकका, उसको शिक्षा देना है,
चिकित्सकका, उसे स्वस्थ रखना है,
वकीलका उसमे न्यायका प्रचार करना है,
और व्यापारीका उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगोका कर्त्तव्य समय आनेपर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्—

पैर पीछे हटानेके बदले सिपाहीको अपनी जगह-पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेगके समय भाग जानेके बदले चाहे खुद प्लेगका

शिकार हो जाए तो भी चिकित्सकको वहा मौजूद रहकर रोगियोका इलाज करते रहना चाहिए।

सत्यकी शिक्षा देनेमे लोग मार डाले तो भी मरते दमतक धर्मोपदेशकको झूठके वदले सत्यही-की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्यायके लिए मरना पड़े तव भी वकीलको इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालोके लिए मरनेका उपयुक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियो तथा दूसरे सव लोगोके लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समयपर मरनेको तैयार नही है, वह जीना किसे कहते है यह नही जानता। हम देख चुके है कि व्यापारीका काम जनताके लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशकका काम तनखाह लेना नही, बल्कि उपदेश देना है, उसी तरह व्यापारीका नफा कमाना नही, वल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देनेवालेको रोटी और व्यापारीको नफा तो मिल ही जाते है, पर दोनोमेसे एकका भी काम तनखाह या नफेपर नजर रखना नही है। उन्हे तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक

हो तो व्यापारीको ऊंचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनताका लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काममें जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हो उनकी रक्षा और बीमार होनेपर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करनेके लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरोकी तरह व्यापारी-के लिए भी जान दे देनेका अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उसपर कैसा ही सकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाए, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगोको धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करनेवालोके साथ अत्यंत स्नेहका व्यवहार करेगा। बडे कारखानो या कारबारोमें जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमेसे कितनोको अक्सर घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिकको ही उनके मा-बाप बनना होता है। मालिक इस विषयमे लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मा-बापके हो जाते हैं। इसलिए पद-पदपर व्यापारी या मालिकको अपने-

आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि "मै जिस तरह अपने लड़कोको रखता हूं वैसा ही बरताव नौकरोंके साथ भी करता हू या नही ?"

जहाजके कप्तानके नीचे जो खलासी होते है उनमे कभी उसका लडका भी हो सकता है। सब खलासियोको लड़कोके समान मानना कप्तानका कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारीके यहा अनेक नौकरोमे यदि उसका लडका भी हो तो काम-काजके बारेमे वह जैसा व्यवहार अपने लडकेके साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरोके साथ भी उसे करना होगा। इसीको सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाजके खतरेमे पड़ जानेपर कप्तानका कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाजसे उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटोमे व्यापारीका कर्त्तव्य है कि अपने आदमियोकी रक्षा अपनेसे पहले करे। इस प्रकारके विचार सभव है कुछ लोगोको विचित्र मालूम हो, परतु ऐसा मालूम होना ही इस जमानेकी विशेष नवीनता है, क्योकि विचार करके यह सभी देख सकते है कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलाई गई है। जिस समाजको ऊपर उठना है उसमे दूसरे प्रकारकी नीति कदापि नही चल सकती।

अंग्रेज जाति आजतक कायम है तो इसका कारण यह नही है कि उसने अर्थशास्त्रके नियमोका अनुसरण किया है; बल्कि यह है कि थोड़ेसे लोगोंने उन नियमोका भग करके उपर्युक्त नैतिक नियमोका पालन किया है। इसीसे यह नीति अवतक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमोका भंग करनेसे कैसी हानिया होती है और किस तरह समाजको पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाईके मूलके सबधमे पहले ही कह चुके है। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिसे कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरहके लाभका हिसाब नही लगाते। वे जिस शास्त्रकी विवेचना करते है वह केवल इसी बातका विचार करता है कि मालदार बननेका क्या उपाय है? यह शास्त्र गलत नही है, बल्कि अनुभवसे इसके सिद्धात प्रभावकारी पाये गए है। जो इस शास्त्रके अनुसार चलते है वे निश्चय ही धनवान होते है और जो नही चलते है वे कगाल हो जाते है। यूरोपके सभी धनिकोने इसी शास्त्रके अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है।

इसके विरुद्ध दलीले उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नही है। व्यापारी रुपये कमाते है, पर वे यह नही जान सकते कि उन्होने सच-मुच कमाया या नही और उससे राष्ट्रका कुछ भला हुआ है या नही। 'धनवान' शब्दका अर्थ भी वे अक्सर नही समझते। वे इस बातको नही जान पाते कि जहा धनवान होगे वहा गरीब भी होगे। कितनी ही बार वे भूलसे यह मान लेते है कि किसी निर्दिष्ट नियमके अनुसार चलनेसे सभी आदमी धनी हो सकते है। सच पूछिए तो यह मामला कुएंके रहंट-जैसा है। एकके खाली होनेपर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास उतना नही होता। अगर आपके सामने या पासवाले आदमीको आपके रुपयेकी गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपयेकी शक्ति इस बातपर अवलंबित है कि आपके पडोसीको रुपयेकी कितनी तंगी है। जहा गरीबी है वही अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमीको धनवान होना हो तो उसे

अपने पड़ोसियोको गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्रका अर्थ है, ठीक समयपर ठीक स्थानमे आवश्यक और सुखदायक वस्तुए उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समयपर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढई लकड़ीका काम ठीक तौरसे करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। ये लोग सारे राष्ट्रकी सपत्ति बढ़ानेवाले है। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नही कहा जा सकता। उसमे तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरोको उसकी तगीमे रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाले यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरहके कितने रुपये मिलेगे, अपनेको उतना ही पैसेवाला मानते है। वे यह नही सोचते कि उनके रुपयोका मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सके उतना ही है। साथ ही वे लोग धातुका, रुपयोका संग्रह करते है। वे यह भी हिसाब लगाते है कि उससे कितने मजदूर मिल सकेगे। एक आदमीके पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमीको नौकरोंकी जरूरत

होगी, परतु यदि उसके पड़ोसियोसे किसीको सोना-चादी या अन्नकी जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अत. उस मालदारको खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पडेगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशामे उसके लिए उसके सोनेका मूल्य उसके खेतके पीले कंकड़ोसे अधिक न होगा। उसका अन्न सड जायगा; क्योंकि वह अपने पडोसीसे ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरोकी तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्थामे अधिक आदमी सोना-चादी एकत्र करना पसंद न करेंगे। गहराईसे सोचनेपर हमे मालूम होगा कि धन प्राप्त करनेका अर्थ दूसरे आदमियोपर अधिकार प्राप्त करना—अपने आरामके लिए नौकर, व्यापार या कारीगरकी मेहनतपर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियोकी गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाबसे मिल सकेगा। यदि एक बढईसे काम लेनेकी इच्छा रखनेवाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहा अधिक मजदूरी मिलेगी वहा जायगा। निचोड़ यह निकला

कि धनवान होनेका अर्थ जितने अधिक आदमियोको हो सके उतनोंको अपनेसे ज्यादा गरीबीमे रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते है कि इस तरह लोगोको तंगीमे रखनेसे राष्ट्रका लाभ होता है। सब बराबर हो जायं, यह तो हो नही सकता, परंतु अनुचित रूपसे लोगोमे गरीबी पैदा करनेसे जनता दुखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूपसे हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

: २ :

दौलतकी नसें

इस प्रकार किसी विशेष राष्ट्रमे रुपये-पैसेका चक्कर शरीरमे रक्त-संचारके समान है। तेजीके साथ रक्तका संचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायाम-का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वरका। शरीर-पर एक प्रकारकी लाली स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकारकी रक्तपित्त रोगका चिह्न है। फिर एक स्थानमें खूनका जमा हो जाना जिस तरह शरीरको

हानि पहुचाता है उसी तरह एक स्थानमे धनका संचित होना भी राष्ट्रकी हानिका कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि जहाजके टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जानेसे दो खलासी एक निर्जन किनारेपर आ पडे है। वहां उन्हे खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते है। यदि दोनो स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहे तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयारकर खेती कर सकते है और भविष्यके लिए कुछ बचा भी सकते है। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते है और यदि दोनो अच्छी तरह काम करे तो उसमे दोनोका हिस्सा बराबर माना जावेगा। इस तरह इनपर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हे अपने परिश्रमका फल बाटनेका अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनो बाद इनमेसे एक आदमीको असतोष हुआ, इसलिए उन्होने खेत बाट लिए और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे। फिर मान लीजिए कि कभी ऐन मौकेपर एक आदमी बीमार पड गया। ऐसी दशामे वह स्वभावत दूसरेको मददके लिए बुलाएगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मै तुम्हारा इतना काम करनेको तैयार हू, पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पडे

तो तुम्हे भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हें यह लिख देना होगा कि तुम्हारे खेतमे मैं जितने घटे काम करूगा उतने ही घटे, जरूरत पडनेपर, तुम मेरे खेतमे काम कर दोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमारकी बीमारी लबी चली और हर बार उसे उस आदमीको इसी तरहका इकरारनामा लिखकर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनोकी स्थिति क्या होगी ? हम देखेंगे कि दोनों ही पहलेसे गरीब हो गए है, क्योंकि बीमार आदमी जबतक खाटपर पड़ा रहा तबतक उसे अपने कामका लाभ नही मिला। यदि हम मान ले कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमारके खेतमे लगाया उतना अपने खेतमे लगानेसे उसे वचित रहना पड़ा। फल यह हुआ कि जितनी संपत्ति दोनोकी मिलकर होनी चाहिए थी उसमे कमी हो गई।

इतना ही नही, दोनोका सबध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमीका कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देनेके बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिए कि उस चगे आदमीने बीमार आदमीसे लिखाए हुए

इकरारनामेका उपयोग करनेका निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूपसे विश्राम ले सकता है—आलसी वन सकता है। वह चाहे तो वीमारीसे उठे हुए आदमीसे दूसरे इक़रारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नही कह सकेगा कि इसमें कोई बेकायदा बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहां आए तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐश-आराम करता है, आलस्यमें दिन विताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्टसे निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरणसे पाठक देख सकेंगे कि दूसरेसे काम लेनेके हक़का फल यह होता है कि वास्तविक संपत्ति घट जाती है।

अव दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियोंने मिलकर एक राज्यकी स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हरेकने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सबके काम आ सके। मान लीजिए कि इनमेंसे एक आदमी सबका समय बचानेके लिए एकका माल दूसरेके पास पहुंचानेका जिम्मा ले लेता है और इसके बदलेमें अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौरसे माल लाए व ले जाए तो सबको लाभ

होगा। पर मान लीजिए कि यह आदमी माल ले जानेमे चोरी करता है और बादको सख्त जरूरतके समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानोंको भिखारी बना देता है और अंतमे अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपरके दृष्टांतमे स्पष्ट अन्याय है, पर आजके व्यापारियोका यही हाल है। हम यह भी देख सकेगे कि इस चोरीकी कार्रवाईके बाद तीनो आदमियोकी संपत्ति इकट्ठी करनेपर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमीके ईमानदार बने रहनेपर होती। दोनो किसानोंका काम कम हुआ। आवश्यक चीजे न मिलनेसे अपने परिश्रमका पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलालके हाथ चोरीका जो माल लगा उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नही हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणितका-सा स्पष्ट हिसाब लगाकर राष्ट्रविशेषकी संपत्तिकी जांच कर सकते है। उस संपत्तिकी प्राप्तिके साधनोंपर उसे धनवान मानने या न माननेका आधार है। किसी राष्ट्रके पास इतने पैसे है, इसलिए वह इतना धनवान है यह नही कहा जा सकता। किसी आदमीके

पास धनका होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलताका लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेबका सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमे इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है। दूसरा ऐसा होता है कि एक आदमीके हाथमे आते हुए दस गुने धनका नाश कर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीतिका विचार किए बिना धन बटोरनेके नियम बनाना केवल मनुष्यकी घमड दिखानेवाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महगे-से-महगा बेचनेके नियमके समान लज्जाजनक बात मनुष्यके लिए दूसरी नही है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगनेपर लकडिया जल जानेसे जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकपके कारण धराशायी हो जानेवाले मकानोकी ईंटे सस्ती हो सकती है; किंतु इससे कोई यह कहनेका साहस नही कर सकता कि आग और भूकंपकी दुर्घटनाए जनताके लाभके लिए हुई थी। इसी तरह 'महंगा-से-महगा बेचना' भी ठीक है, पर महगी हुई कैसे ? आज आपको रोटीके

अच्छे दाम मिले। पर क्या आपने दाम किसी मरणा-सन्न मनुष्यकी अंतिम कौडिया लेकर खडे किए है ? या आपने वे रोटिया किसी ऐसे महाजनको दी है जो कल आपका सर्वस्व हडप लेगा ? या किसी ऐसे सिपाहीको दी जो आपके बैंकपर धावा बोलनेवाला है ? संभव है कि इनमेंसे एक भी प्रश्नका उत्तर आप अभी न दे सके, क्योकि आपको इनका ज्ञान नही है, पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्यपर, नीतिपूर्वक बेची है या नही यह आप बतला सकते है। ठीक न्याय होनेकी ही चिता रखना आवश्यक भी है। आपके काममे किसीको दु ख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है।

हम देख चुके कि धनका मूल्य उसके द्वारा लोगोका परिश्रम प्राप्त करनेपर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्तमे मिल सके तो पैसेकी जरूरत नही रहती। पैसे बिना भी लोगोकी मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते है और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके है कि धन-बलसे नीति-बल अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके है कि जहां धन काम नही देता वहां सद्गुण काम देता है। इंग्लैंडमे अनेक स्थानोंमें लोग धनसे भुलावेमे नही डाले जा सकते।

यदि हम मान ले कि आदमियोसे काम लेनेकी शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते है कि वे आदमी जिस परिमाणमे चतुर और नीतिमान होगे उसी परिमाणमे दौलत बढेगी। इस तरह विचार करनेपर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चादी नही, बल्कि स्वय मनुष्य ही है। धनकी खोज धरतीके भीतर नही, मनुष्यके हृदयमे ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्रका सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगोको तन, मन और मानसे स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैंड गोलकुडेके हीरोसे गुलामोको सजाकर अपने वैभवका प्रदर्शन करनेके बदले, यूनानके एक सुप्रसिद्ध मनुष्यके कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषोको दिखाकर कहे कि—

"यह मेरा धन है।"

: ३ :

अदल इंसाफ

ईसवी सन्‌की कुछ शताब्दियो पहले एक यहूदी व्यापारी हो गया है। उसका नाम सोलोमन था।

उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाए थे। उसकी कहावतोका आज भी यूरोपमे प्रचार है। वेनिसके लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होने उसकी मूर्ति स्थापित की। उसकी कहावतें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परंतु ऐसे आदमी बहुत कम है जो उनके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते है वे घमंडी हैं और यही उनकी मौतकी निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हरामकी दौलतसे कोई लाभ नही होता। सत्य मौतसे बचाता है।" इन दोनों कहावतोमे सोलो-मनने बतलाया है कि अन्यायसे पैदा किए हुए धनका परिणाम मृत्यु है। इस जमानेमे इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणत हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नही सकते। जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने मालपर लोगोको भुलावेमे डालनेवाले लेविल लगाना, इत्यादि।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ानेके लिए गरीबोंको दुख देता है वह अतमे दर-दर भीख मांगेगा। इसके बाद कहता है, "गरीबोको न सताओ, क्योंकि वे गरीब है। व्यापारमे दुखियोपर जुल्म न करो, क्योकि जो गरीबको सताएगा खुदा

उसे सताएगा।" लेकिन आजकल तो व्यापारमे मरे हुए आदमीको ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई सकटमे पड जाता है तो हम उसके सकटसे लाभ उठानेको तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदार-के यहा डाका डालते है, परतु व्यापारमे तो गरीबोको ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनो समान है। खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है। खुदा उन्हे ज्ञान देता है।"अमीरका गरीबके बिना और गरीवका अमीरके बिना काम नही चलता। एकसे दूसरेका काम सदा ही पडता रहता है, इसलिए कोई किसीको ऊचा या नीचा नही कह सकता। परतु अब ये दोनो अपनी समानताको भूल जाते हे और जब उन्हें इस बातका होश नही रहता कि खुदा उन्हे ज्ञान देनेवाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदीके समान है। नदी सदा समुद्रकी ओर अर्थात् नीचेकी ओर वहती है। इसी तरह धनको भी जहा आवश्यकता हो वही जाना चाहिए, परतु जैसे नदीकी गति वदल सकती है वैसे ही धनकी गतिमे भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदिया इधर-उधर वहने लगती है और उनके आस-पास वहुत-सा

पानी जमा हो जानेसे जहरीली हवा पैदा होती है। इन्ही नदियोमे बांध बाधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जानेसे वही पानी जमीनको उपजाऊ और आस-पासकी वायुको उत्तम बनाता है। इसी तरह धनका मनमाना व्यवहार होनेसे बुराई बढती है, गरीबी बढती है। साराश यह कि वह धन विष-तुल्य हो जाता है, पर यदि उसी धनकी गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बाधी हुई नदीकी तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धनकी गतिके नियंत्रणके नियमको एकदम भूल जाते है। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करनेका शास्त्र है; परंतु धन तो अनेक प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोपमें धनिकको विष देकर लोग उसके धनसे स्वय धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगोंके लिए जो खाद्य पदार्थ तैयार किए जाते है उनमें व्यापारी मिलावट कर देते है। जैसे दूधमे सुहागा, आटेमे आलू, कहवेमे 'चीकरी', मक्खनमे चरबी इत्यादि। यह भी विष देकर धनवान होनेके समान ही है। क्या इसे हम धनवान होनेकी कला या विज्ञान कह सकते है?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूटसे ही धनी होनेकी बात कहते है। उनकी ओरसे यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-सगत और न्याय-युक्त उपायोसे धनवान होनेका है। पर इस जमानेमे यह भी होता है कि अनेक बाते जायज होते हुए भी न्यायबुद्धिसे विपरीत होती है। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्यायसे ही पैसा कमानेकी बात ठीक हो तो न्याय-अन्यायका विवेक उत्पन्न करना मनुष्यका पहला काम होना चाहिए। केवल लेन-देनके व्यावसायिक नियमसे काम लेना या व्यापार करना ही काफी नही है। यह तो मछलिया, भेड़िये और चूहे भी करते है। बडी मछली छोटी मछलीको खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जतुओको खा जाता है और भेड़िया आदमीतकको खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नही है; परतु ईश्वरने मनुष्यको समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरोको भक्षण कर, उन्हे ठगकर, उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्थामे अब हमें देखना है कि मजदूरोंको मजदूरी देनेका न्याय क्या है?

हम पहले कह चुके है कि मजदूरका उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दे। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनतका कम वदला देते है, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते है।

एक आदमीको एक मजदूरकी आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करनेको तैयार हो जाते है। अव जो आदमी कम मजदूरी मांगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियोको मजदूरीकी आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुहमागी उजरत मिल जाएगी और यह प्राय जितनी होनी चाहिए उससे अधिक ही होगी। इन दोनोके वीचकी दर उचित मजदूरी कही जायगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधिके वाद लौटाना चाहू तो मुझे उस आदमीको व्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमीको उतना ही नही, वल्कि व्याजके तौरपर, कुछ अधिक परिश्रम

देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घटा पाच मिनट या इससे अधिक काम कर देनेका वचन देना चाहिए। यही वात प्रत्येक मजदूरके विषयमे समझनी चाहिए।

अव अगर मेरे पास दो मजदूर आए और उनमेसे जो कम ले उसे मै कामपर लगाऊ तो फल यह होगा कि जिससे मै काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो वेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मै जिस मजदूरको रखू उसे पूरी मजदूरी दू तव भी दूसरा मजदूर तो वेकार ही रहेगा, फिर भी जिसे मै काममे लगाऊगा उसे भूखो न मरना होगा और यह समझा जाएगा कि मैने अपने रुपयेका उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगोके भूखो मरने-की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जव मजदूरोको कम मज़दूरी दी जाती है। मै मज़दूरी दू तो मेरे पास व्यर्थका धन इकट्ठा न होगा, मै भोग-विलासमे रुपया खर्च न करूगा और मेरे द्वारा गरीवी न वढेगी। जिसे मै उचित दाम दूगा वह दूसरोको उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्यायका सोता सूखनेके वदले ज्यों-ज्यो आगे वढ़ेगा त्यो-त्यो उसका जोर वढता जायगा और जिस राष्ट्रमे इस प्रकारकी न्याय-वुद्धि

होगी वह सुखी होगा और उचित रूपसे फूले-फलेगा।

इस विचारके अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते है। उनका कथन है कि ज्यो-ज्यो प्रतिस्पर्द्धा बढती है त्यो-त्यो राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तवमे यह विचार भ्रात है। प्रतिस्पर्द्धाका उद्‌देश्य है मजदूरीकी दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्‌ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढा-ऊपरी) से अंतमे राष्ट्रका नाश होनेकी सभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमीको उसकी योग्यताके अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमे भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धाके फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होगे, क्योकि फिर काम पानेके लिए अपनी दर घटानेकी जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढानी होगी। इसीलिए लोग सरकारी नौकरी पानेके लिए उत्सुक रहते है। वहां दर्जेके अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलतामे रहती है। नौकरीके लिए दरख्वास्त देनेवाला कभी तनखाह लेनेकी बात नही कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमे दूसरोकी अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज

और जल-सेनाकी नौकरियोमे भी इसी नियमका पालन किया जाता है और इसीलिए प्राय ऐसे विभागोमे गडवड और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियोमे ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेवाजी, दगा, फरेव, चोरी आदि अनीतिया वढ गई है। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराव और सडा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मै खाऊ, मजदूर चाहता है कि मै ठग लू और ग्राहक चाहता है कि मै वीचसे कमा लू! इस प्रकार व्यवहार विगड़ जाता है, लोगोमे खटपट मची रहती है, गरीवीका जोर वढता है, हडताले वढ जाती है, महाजन ठग वन जाते है, ग्राहक नीतिका पालन नही करते। एक अन्यायसे दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते है। अंतमे महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दुख भोगते और नष्ट होते है। जिस राष्ट्रमें ऐसी प्रथाए प्रचलित होती है वह अतमे दुख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है।

इसलिए ज्ञानियोने कह रखा है—

"जहा धन ही परमेश्वर है वहा सच्चे परमेश्वर-को कोई नही पूजता।"

अग्रेज मुंहसे तो कहते है कि धन और ईश्वरमे

परस्पर विरोध है, गरीबहीके घरमे ईश्वर वास करता है, पर व्यवहारमे वे धनको सर्वोच्च पद देते है। अपने धनी आदमियोकी गिनती करके अपनेको सुखी मानते है और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करनेके नियम बनाते है जिन्हें सीखकर लोग धनवान हो जाय। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धिका है। प्रत्येक प्रकारकी स्थितिमे न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय—जो राष्ट्र इस शास्त्र-को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बाते वृथा प्रयास है, 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि' के समान है। लोगोको जैसे भी हो सके पैसा पैदा करनेकी शिक्षा देना उन्हे उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

: ४ :

सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणोमे हम देख चुके कि अर्थ-शास्त्रियोंके जो साधारण नियम माने जाते है वे ठीक नही है। उन नियमोके अनुसार आचरण करनेपर व्यक्ति और समाज दोनो दुखी होते है, गरीब अधिक

गरीब बनता है और पैसेवालेके पास अधिक पैसा जमा होता है, फिर भी दोमेसे एक भी सुखी होता या रहता नही ।

अर्थशास्त्री मनुष्योके आचरणपर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेनेको ही अधिक उन्नति मानते है और जनताके सुखका आधार केवल धनको बताते है। इसीलिए वे सिखाते है कि कला-कौशल आदिकी वृद्धिसे जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरहके विचारोके प्रचारके कारण इग्लैंड और दूसरे देशोमे कारखाने बढ गए है। बहुतसे आदमी शहरोमे जमा होते है और खेती-बाडी छोड देते है। बाहरकी सुदर स्वच्छ वायुको छोडकर कारखानोकी गदी हवामे रात-दिन सास लेनेमे सुख मानते है। इसके फलस्वरूप जनता कमजोर होती जा रही है, लोभ बढता जारहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीतिको दूर करनेकी बात उठाते है तब बुद्धिमान कहलानेवाले लोग कहते है कि अनीति दूर नही हो सकती, अज्ञानियोंको एकदम ज्ञान नही हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते है कि गरीबोंकी

अनीतिका कारण धनवान है। उनके भोग-विलास-का सामान जुटानेके लिए गरीब रात-दिन मजदूरी करते है, उन्हे कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करनेके लिए एक पल भी नही मिलता। धनिकोको देखकर वे भी धनी होना चाहते है। धनी न हो पानेपर खिन्न होते है, झुंझलाते है। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्तेसे धन न मिलता देख दगा-फरेबसे पैसा कमानेका वृथा प्रयास करते है। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलानेमे उनका उपयोग होता है।

वास्तवमे सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानव-जातिका भरण-पोषण हो। भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्यको यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीतिके मार्गपर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टिसे विचार करनेसे बड़े-बड़े आयोजन बेकार माने जाएंगे। सभव है कि कल-कारखाने खोलकर धनवान होनेका मार्ग ग्रहण करना पापकर्म मालूम हो। पैसा पैदा करनेवाले बहुतेरे मिलते है, पर उसका यथाविधि उपयोग करनेवाले कम पाए जाते हैं। जिस धनको पैदा करनेमे जनता

तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोडपति है वे बडे-बडे और अनीतिमय सग्रामोके कारण करोडपति हुए है। वर्तमान युगके अधिकांश युद्धोका मूल कारण धनका लोभ ही दिखाई देता है।

लोग यह कहते हुए दिखाई देते है कि दूसरोको सुधारना, ज्ञान देना असभव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहनेवाले स्वय नीतिका पालन नही करते, क्योकि जो आदमी नीतिका पालन करता है और लोभमें नही पडता वह पहले तो अपने मनको स्थिर रखता है, वह स्वय सन्मार्गसे विचलित नही होता और अपने कार्यसे ही दूसरोपर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वय जबतक नैतिक नियमोका पालन न करे तबतक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है ? हम खुद तो मनमाना आचरण करे और पडोसीकी अनीतिके कारण उसके दोष निकालें तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार विचार करनेसे हम देख सकते है कि धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दुख दोनो हो सकते है। यदि वह अच्छे मनुष्यके हाथमे पडता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न

पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके सतोष पाते है और राष्ट्र सुखी होता है। खराव मनुष्यके हाथमे धन पडनेसे उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते है और लोगोका सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनानेवाला राष्ट्र और जिसपर इनका प्रयोग होता है वे दोनो हानि उठाते और दुख पाते है।

इस तरह हम देख सकते है कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्रमे नीति है वह धनसपन्न है। यह जमाना भोग-विलासका नही है। हरेक आदमीको जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरणमे हम देख चुके हैं कि जहा एक आदमी आलसी रहता है वहां दूसरेको दूनी मेहनत करनी पडती है। इग्लैडमे जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जानेपर कोई उपयोगी काम नही करते, अत उनके लिए दूसरे आदमियोको परिश्रम करना पडता है। यह परिश्रम उपयोगी न होनेके कारण काम करनेवालेका इसमे लाभ नही होता। ऐसा होनेसे राष्ट्रकी पूजी घट जाती है। इसलिए ऊपरसे यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगोको काम मिल रहा

है, परतु भीतरसे जाच करनेपर मालूम होता है कि अनेक आदमियोको बेकार बैठना पड रहा है। पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असतोषकी जड जमती है और अतमे मालदार-गरीब, मालिक-मजदूर दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते है। जिस तरह बिल्ली और चूहेमे सदा अनबन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूरमे दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशुकी अवस्थामे पहुच जाता है।

: ५ :

सारांश

महान् रस्किनके लेखोका खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकोको नीरस मालूम होगे, तथापि जिन्होने इन्हे एक वार पढ लिया हो उनसे हम फिर पढनेकी सिफारिश करते है। 'इडियन ओपीनियन'[1] के सब पाठकोसे यह आशा रखना

---

[1] इस नामका गुजराती-अङ्गरेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजीने दक्षिण अफ्रीकामें रहते समय डरबनसे निकाला था। अब भी यह निकल रहा है।

कि वे इनपर विचारकर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बडी अभिलाषा कही जाए। पर यदि थोडे पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सारको ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किनके अंतिम परिच्छेदके अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसीमे फलका समावेश हो जाता है। इसलिए हमें तो सदा ही संतोष मानना उचित है।

रस्किनने जो बाते अपने भाइयों—अंग्रेजोके लिए लिखी है वे अंग्रेजोके लिए यदि एक हिस्सा लागू होती हैं तो भारतवासियोके लिए हजार हिस्से लागू होती हैं। हिंदुस्तानमे नए विचार फैल रहे हैं। आजकलके पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवकोमे जोश आया है, यह तो ठीक है; पर जोशका अच्छा उपयोग होनेसे अच्छा, और बुरा होनेपर बुरा परिणाम होता है। एक ओरसे यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओरसे यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजीके साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हों, नेटालमे स्वराज है, पर हम कहते है कि नेटालमे जो

तीन बातें दूर हो जाएं तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारतसे चले जाएंगे। यही नहीं, हम भी सच्चे स्वराजको भोग सकते हैं।

बमबाजीसे बहुतसे लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और नासमझीकी निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारनेवाले ही भारतके मालिक बनेंगे। अर्थात् भारत दास ही रहेगा। अंग्रेजोंका नाश करनेवाले बम अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंपर बरसेंगे। फ्रांसके प्रजातन्त्रके अध्यक्ष—राष्ट्रपति—को मारनेवाला फ्रेंच ही था। अमरीकाके राष्ट्रपति क्लीवलैंडको मारनेवाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमें उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रोंका अंधानुकरण कदापि न करें।

जिस तरह पाप कर्मसे—अंग्रेजोंको मारकर सच्चा स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारतमें कारखाने खोलनेसे भी स्वराज नहीं मिलनेका। रस्किनने इस बातको पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चांदी एकत्र हो जानेसे कुछ राज्य नहीं मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिममें सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि

सच पूछिए तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनोंमें पश्चिमकी जनता वर्णसकर-सी होती दिखाई देने लगी है। हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोपकी-सी अवस्था भारतकी कदापि न हो। यूरोपके राष्ट्र एक-दूसरेपर घात लगाए बैठे है। केवल अपनी तैयारीमे लगे होनेके ही कारण सब शात है। किसी समय जब जोरोकी आग लगेगी तब यूरोपमे नरक ही दिखाई देगा। यूरोपका प्रत्येक राज्य काले आदमियोंको अपना भक्ष्य मान बैठा है। जहा केवल धनका ही लोभ है वहा कुछ और हो ही कैसे सकता है ? उन्हे यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उसपर टूट पड़ते है जिस तरह चील और कौवे मासपर टूटते है। इस प्रकार सब उनके कारखानोके ही कारण होता है, यह माननेके लिए हमारे पास कारण है।

अंतमे भारतको स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियोंकी पुकार है और यह उचित ही है, परतु स्वराज हमे नीति-मार्गसे प्राप्त करना है। वह नामका नही, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायोसे नही मिल सकता। उद्योगकी आवश्यकता है; पर उद्योग सच्चे रास्तेसे होना चाहिए।

भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी, इसलिए कि भारतवासी स्वर्णरूपसे थे। भूमि तो वही है, पर आदमी बदल गए है, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुन: सुवर्ण बनानेके लिए हमे सद्-गुणोद्वारा स्वर्णरूप बनना है। हमे स्वर्ण बनाने-वाला पारसमणि दो अक्षरोमे अतर्निहित है और वह है 'सत्य'। इसलिए यदि प्रत्येक भारतवासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारतको घर बैठे स्वराज मिल जायगा।

मंगल प्रभात

[व्रत-विचार]

मंगलप्रभात

: १ :

सत्य

प्रातःकालकी प्रार्थनाके बाद

२२-७-३०

हमारी संस्थाका मूल ही 'सत्यका आग्रह' है, इसलिए पहले सत्यको ही लेता हूं।

'सत्य' शब्द सत्से बना है। सत्का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्यके बिना दूसरी किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। परमेश्वरका सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है यह कहनेकी अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ताके बिना, सरदारके बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने-पर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्यके साथ ज्ञान--शुद्ध ज्ञान अवश्यंभावी है।

जहा सत्य नही है वहा शुद्ध ज्ञानकी सभावना नहीं है। इससे ईश्वर नामके साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्दकी योजना हुई है और जहां सत्य ज्ञान है वहा आनद ही होगा, शोक होगा ही नही। सत्यके शाश्वत होनेके कारण आनद भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वरको हम सच्चिदानदके नामसे भी पहचानते हैं।

इस सत्यकी आराधनाके लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमें हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणत सत्यका अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने विशाल अर्थमे सत्य शब्दका प्रयोग किया है। विचारमे, वाणीमे और आचारमे सत्यका होना ही सत्य है। इस सत्यको संपूर्णत समझनेवालेके लिए जगतमे और कुछ जानना बाकी नही रहता; क्योकि हम ऊपर विचार कर आए है कि सारा ज्ञान उसमे समाया हुआ है। उसमे जो न समाय वह सत्य नही है, ज्ञान नही है। तब फिर

उससे सच्चा आनंद तो हो ही कहांसे सकता है ? यदि हम इस कसौटीका उपयोग करना सीख जायं तो हमे यह जाननेमे देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य ? क्या देखने योग्य है, क्या नही; क्या पढ़ने योग्य है, क्या नही ?

पर यह पारसमणिरूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय ? इसका जवाब भगवानने दिया है—अभ्यास और वैराग्यसे। सत्यकी ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओंमे आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायंगे कि एकके लिए जो सत्य है दूसरेके लिए वह असत्य हो सकता है। इसमे घब-रानेकी बात नहीं है। जहा शुद्ध प्रयत्न है वहा भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेडके असंख्य भिन्न दिखाई देनेवाले पत्तोके समान है। परमेश्वर ही क्या हर आदमीको भिन्न दिखाई नही देता ? फिर भी हम जानते है कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वरका है, अत जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह वरते तो उसमे दोप नही। इतना ही नही, वल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमे भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी, क्योकि सत्यकी खोजके साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट-सहनकी वात

होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अत उसमे स्वार्थकी तो गंधतक भी नही होती। ऐसी नि स्वार्थ खोजमे लगा हुआ आजतक कोई अंतपर्यंत गलत रास्तेपर नही गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्यकी आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेलीपर लेकर चलनेका सौदा' है, अथवा वह 'हरिका मार्ग' है जिसमे कायरताकी गुंजाइश नही है, जिसमे हार नामकी कोई चीज है ही नही। वह तो 'मरकर जीनेका मत्र' है।

पर अव हम लगभग अहिंसाके किनारे आ पहुंचे है। उसपर अगले सप्ताह विचार करूगा।

इस प्रसगके साथ हरिश्चंद्र, प्रह्लाद, रामचंद्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई सतो आदिके दृष्टांत विचारने योग्य है। चाहिए कि अगले सप्ताहतक सव वालक-वड़े, स्त्री-पुरुप चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते—सारे काम करते हुए यह रटन लगाए रहे और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करे तो कितना अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभीके लिए वैसा ही सिद्ध हो।

: २ :

अहिंसा

मंगलप्रभात
२९-७-३०

सत्यका, अहिंसाका मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खाडेकी धारपर चलनेके समान है। नट जिस डोरपर सावधानीसे नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसाकी डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पलकी साधनासे ही उसके दर्शन होते है।

लेकिन सत्यके संपूर्ण दर्शन तो इस देहसे असभव है। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देहद्वारा शाश्वत धर्मका साक्षात्कार संभव नही होता। अत. अंतमें श्रद्धाके उपयोगकी आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासुके पल्ले पडी। जिज्ञासुके सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्गमे आनेवाले संकटोको सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढे? उसने देखा कि नाश करते चलनेपर वह आगे नही बढ़ता, दर-का-

दरपर ही रह जाता है। सकट सहकर तो आगे वढता है। पहले ही नागमे उसने देखा कि जिस सत्यकी उसे तलाग है वह वाहर नही है, वल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाग करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमे सताता है, उससे वचनेको हमने उसे दड दिया। उस वक्तके लिए तो वह भाग गया जरूर, लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेव लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अत हमने अधेरी गलीमें ठोकर खाई। चोरका उपद्रव वढता गया, क्योकि उसने तो चोरीको कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते है कि चोरका उपद्रव सह लें, इससे चोरको समझ आएगी। इस सहनसे हम देखते है कि चोर कोई हमसे भिन्न नही है। हमारे लिए तो सव सगे है, मित्र है, उन्हे सजा देनेकी जरूरत नहीं है, लेकिन उपद्रव सहते जाना ही वस नही है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अत. हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-विरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमे उसे अपनानेका उपाय खोजनेतकका कष्ट सहनेको तैयार होना चाहिए।

यह अहिंसाका मार्ग है। इसमे उत्तरोत्तर दु ख उठाने-की ही बात आती है, अटूट धैर्य—शिक्षाकी बात आती है। यदि यह हो जाय तो अतमे चोर साहूकार बन जाता है और हमे सत्यके अधिक स्पष्ट दर्शन होते है। ऐसा करते हुए हम जगतको मित्र बनाना सीखते है, ईश्वरकी, सत्यकी महिमा अधिक समझते है, संकट सहते हुए भी शाति-सुख बढता है, हममे साहस, हिम्मत बढ़ती है, हम शाश्वत-अशाश्वतका भेद अधिक समझने लगते है, हमे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देहके अदर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिसा वह स्थूल वस्तु नही है जो आज हमारी दृष्टिके सामने है। किसीको न मारना इतना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जगतके लिए जो आवश्यक वस्तु है उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते है वह जगतके लिए आवश्यक है। जहां खडे है वहा सैकड़ो सूक्ष्म जीव पड़े पैरोतले कुचले जाते है, यह जगह उनकी है।

फिर क्या आत्महत्या कर ले ? तो भी निस्तार नही है। विचारमें देहके साथ ससर्ग छोड़ दे तो अंतमे देह हमे छोड़ देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्य-नारायण है। यह दर्शन अधीरतासे नहीं होते। यह समभकर कि देह हमारी नही है, वह हमे मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमे आगे बढ़ना चाहिए।

मै सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गई कठिन। फिर भी जिसने अहिंसाका थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समभनेमे कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समभ लेना चाहिए कि अहिंसा बिना सत्यकी खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत है जैसे सिक्केके दोनो रुख, या चिकनी चकतीके दो पहलू। उसमे किसे उलटा कहे, किसे सीधा ? फिर भी अहिसाको साधन और सत्यको साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथकी बात है। इससे अहिसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधनकी चिता करते रहनेपर साध्यके दर्शन किसी दिन कर ही लेगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्गमे चाहे जो संकट आयं, बाह्य दृष्टिसे देखनेपर हमारी चाहे जितनी हार होती

दिखाई दे, तो भी हमे विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए---सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कारका एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोडेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वरके नामपर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालनका बल दे।

: ३ :

ब्रह्मचर्य

मंगलप्रभात
५-८-३०

हमारे व्रतोमे तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है। वास्तवमें देखनेपर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्यके व्रतमेंसे ही उत्पन्न होते है और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुष्यने सत्यको वरा है उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तुकी आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकारकी आराधनाकी तो बात ही कहा उठ सकती है? जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्यके दर्शनके लिए है, वह संतानोत्पत्तिके काममे या घर-गिरस्ती चलानेके झगड़ेमे पड़ ही

कैसे सकता है ? भोगविलासद्वारा किसीको सत्य प्राप्त होनेकी आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नही है।

अथवा अहिंसाके पालनको ले तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्यके बिना असाध्य है। अहिसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जहा पुरुषने एक स्त्रीको या स्त्रीने एक पुरुषको अपना प्रेम सौप दिया वहा उसके पास दूसरेके लिए क्या बच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बादको।' पतिव्रता स्त्री पुरुषके लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्रीके लिए सर्वस्व होमनेको तैयार होगा। अत यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेमका पालन नही हो सकता। वह सारी सृष्टिको अपना कुटुब नही बना सकता, क्योकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेममे विक्षेप होता है। इसके उदाहरण हम सारे ससारमे देख रहे है। इस-लिए अहिसा-व्रतका पालन करनेवालेसे विवाह नही बन सकता, विवाहके बाहरके विकारकी तो बात ही क्या ?

फिर जो विवाह कर चुके है उनकी क्या गति

होगी ? उन्हे सत्यकी प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नही कर सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है—विवाहितका अविवाहितकी भांति हो जाना। इस दिशामे इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नही देखी। इस स्थितिका मजा जिसने चखा है वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोगकी सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक दूसरेको भाई-बहन मानने लग जाय तो सारे झगड़ोसे वे मुक्त हो जाते है। संसारभरकी सारी स्त्रियां बहने है, माताएं है, लड़कियां है—यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊचे ले जानेवाला, बंधनमेसे मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमे पति-पत्नी कुछ खोते नही,- वरन् अपनी पूजीमे वृद्धि करते है, कुटुब बढ़ाते है, विकाररूपी मैल निकलनेसे प्रेम भी बढता है। विकारोके जानेसे एक दूसरेकी सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक दूसरेके बीच कलहके अवसर कम होते है। जहा स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहां कलहके लिए ज्यादा गुजाइश रहती है।

इस प्रधान विचारके समझ लेने और उसके हृदयमे बैठ जानेके बाद ब्रह्मचर्यसे होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते है। जान-

बूझकर भोगविलासके लिए वीर्य खोना और शरीरको निचोड़ना कितनी वड़ी मूर्खता है ? वीर्यका उपयोग दोनोकी शारीरिक और मानसिक शक्तिको वढ़ानेके लिए है। उसका विषय-भोगमे उपयोग करना यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोगके कारण वह वहुतेरे रोगोकी जड वन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्यका पालन मन, वचन और कर्म तीनोसे होना चाहिए। व्रतमात्रके विषयमे यही वात समझनी चाहिए। हम गीतामे पढ़ते है कि जो शरीर-को तो वशमे रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकारका पोषण किया करता है, वह मूढ मिथ्याचारी है। सवका यह अनुभव है कि मनको विकारी रहने देकर शरीरको दवानेकी कोशिश करनेमें हानि ही है। जहां मन होता है वहां शरीर अंतमे घसिटाए विना नही रहता। यहा एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकारवश होने देना एक वात है, मनका अपने आप, अनिच्छासे, वलात्कारसे विकारको प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी वात है। इस विकारमे यदि हम सहायक न वने तो अंतमें जीत ही है। हमारा प्रतिपलका यह अनुभव है कि शरीर कावूमे रहता है, पर मन नही रहता। इसलिए

शरीरको तो तुरंत ही वशमे करके मनको वशमें करनेका हम सतत प्रयत्न करते रहे तो हमने अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया। हमारे, मनके अधीन होते ही, शरीर और मनमे विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचारका आरंभ हो जाता है। पर जहातक मनोविकारको दबाते ही रहते है वहातक दोनो साथ जानेवाले है, ऐसा कह सकते है।

इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असभव माना गया है। इसके कारणकी खोज करनेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यको संकुचित अर्थमें लिया गया है। जननेंद्रिय-विकारके निरोधभरको ही ब्रह्मचर्यका पालन मान लिया गया है। मेरे खयालमे यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्संदेह, जो अन्य इंद्रियोंको जहां-तहां भटकने देकर एक ही इंद्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कानसे विकारी बातें सुनना, आंखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तुका स्वाद लेना, हाथसे विकारोंको उभारनेवाली चीजको छूना और फिर भी जननेंद्रियको रोकनेका इरादा रखना तो आगमे हाथ डालकर जलनेसे बचनेके प्रयत्नके समान

है। इसलिए जननेंद्रियको रोकनेका निश्चय करने-वालेके लिए इंद्रियमात्रका, उनके विकारोसे रोकनेका निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्यकी सकुचित व्याख्यासे नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियोका एक साथ वशमे करनेका अभ्यास डाले तो जननेंद्रियको वशमे रखनेका प्रयत्न तुरत सफल हो सकता है। इसमे मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसीलिए व्रतोमे उसके संयमको हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेगे।

ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रखे। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी—सत्यकी—शोधमे चर्या, अर्थात् तत्-सबधी आचार। इस मूल अर्थमेंसे सर्वेंद्रिय-सयम-रूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रिय-सयमरूपी अधूरे अर्थको तो हमे भूल जाना चाहिए।

अस्वाद

१२-८-३०

ब्रह्मचर्यके साथ यह व्रत बहुत निकट सबध रखने-वाला है। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमे समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-सयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतोमें पृथक् स्थान नही दिया जाता। स्वादको बडे-बडे मुनि-वर भी नही जीत सके, इसलिए इस व्रतको पृथक् स्थान न मिला। पर यह केवल मेरा अनुमानमात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रतको पृथक् स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्ररूपसे विचार कर लेना उचित है।

अस्वादका अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवाके खानेमे हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमे ही सेवन करते हैं, वही बात अन्नके विषयमे समझनी चाहिए। अन्नसे मतलब समस्त खाद्य पदार्थोसे है।

इसलिए दूध-फल भी उनमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाणमें कम खानेपर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाणमें खानेसे हानि होती है, वही बात अन्नके बारेमें है। इसलिए किसी भी वस्तुको स्वाद लेनेके लिए चखना, व्रतका भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तुका अधिक परिमाणमें लेना तो अनायास व्रतका भंग हो गया। इससे यह समझमें आ सकता है कि किसी चीजका स्वाद बढ़ाने या बदलनेके लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटाने-को नमक मिलाना, यह व्रतभंग है। पर अमुक परिमाणमें नमककी जरूरत है यह हम जानते हों और इस वजहसे उसमें नमक मिलावें तो इसमें व्रतभंग नहीं है। शरीर-पोषणके लिए आवश्यकता न होनेपर भी मनको ठगनेके लिए आवश्यकताका आरोप करके किसी चीजका बढ़ा लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हम पायंगे कि कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं जो हमारी शरीर-रक्षाके लिए आवश्यक न होनेके कारण त्याज्य-श्रेणीमें हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओंका अनायास त्याग हो जानेसे उस मनुष्यके विकारमात्र शांत हो जायंगे। "एक हांडी तेरह व्यंजन मांगती है," "पेट

तरह-तरहके नाच नचाता है, स्वाग भरवाता है," इन सब वचनोमे बडा अर्थ समाया हुआ है। इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे आहारका चुनाव प्राय. अशक्य हो गया है। बचपनसे ही मा-बाप झूठा लाड-चाव करके अनेक प्रकारके स्वाद करा-कराकर शरीरको बिगाड देते है और जीभको कुत्तिया बना देते है, जिससे बड़े होनेपर लोग शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी देखनेमे आते है। इसका कटुफल हम पद-पदपर अनुभव करते है, फजूलखर्चियोमे पड़ते है, वैद्य-डाक्टरोकी खुशामदे करते है और शरीर तथा इद्रियोको वशमे रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपगकी भाति जीते है। एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि ससारमे मैने एक भी निरोगी मनुष्य नही देखा। जरा भी स्वादके फेरमें पड़नेसे शरीरके लिए उपवासकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारासे किसीको घबरानेकी जरूरत नही है। अस्वाद-व्रतकी भयंकरता देखकर उसे त्याग देनेकी भी जरूरत नही। कोई व्रत लेनेका अर्थ यह नही होता कि हम उसी समयसे उसका पूर्ण रूपसे पालन करने लग गए। व्रत लेनेका अर्थ होता है

सपूर्ण रूपसे उसके पालनका सच्चा दृढ प्रयत्न मन-वचन-कर्मसे, जीवनपर्यंत करना। किसी व्रतके कठिन होनेके कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मनको धोखा नही देना चाहिए। अपनी सुविधाके लिए आदर्शको गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श-को स्वतत्र रूपसे जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करनेका जी-जानसे प्रयत्न करना परम अर्थ है—पुरुषार्थ है। (पुरुष शब्दका अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुरमे अर्थात् शरीरमे जो रहे वह पुरुष। यह अर्थ लेनेसे पुरुषार्थ शब्दका उपयोग स्त्री-पुरुष दोनोके लिए हो सकता है।) जो तीनो कालमे सपूर्ण रूपसे महा-व्रतोका पालन करनेमे समर्थ है उसे इस जगतमे कुछ भी करनेको नही है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्यका आग्रह रखने-वाले, उसकी खोज करनेवाले प्राणी है। इसलिए गीताकी भाषामे, धीरे-धीरे, किंतु अतद्रित रहकर हमे प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसादके योग्य हो जायगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायगे।

अस्वादव्रतका महत्व समझ लेनेपर हमे उसके

पाल्नके लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौवीसो घटे खानेके बारेमे ही सोचते रहनेकी जरूरत नही। सिर्फ सावधानीकी, जागृतिकी पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमे हमे मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमें पड़ते है और कब शरीर-पोषणके लिए खाते है। वह मालूम हो जानेपर हमे दृढ़तापूर्वक स्वादोको घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टिसे विचार करनेपर अस्वाद-वृत्तिसे बननेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहा हमे रोज इसका विचार नही करना पड़ता कि क्या पकायगे, क्या खायगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो उसे ईश्वरका अनुग्रह मानकर, मनमे भी उसकी टीका किए बिना, सतोषपूर्वक शरीरके लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जायं। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रतका पालन करता है। सयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हलका कर देते है, हमारे व्रतके रक्षक बनते है। स्वाद करनेकी दृष्टिसे उन्हे कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाजके शरीरका पोषण करनेके लिए ही रसोई बनाएं। वास्तवमे तो आदर्श स्थितिमे अग्निकी आवश्यकता कम-से-कम या बिलकुल ही नही है। सूर्यरूपी महा-

अग्नि जिन चीजोंको पकाती है उन्हींमेंसे हमारे खाद्यका चुनाव होना चाहिए। इन विचारोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्यको केवल फलाहारी होना चाहिए। परंतु यहां इतनी गहराईमें उतरनेकी जरूरत नहीं है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन-सी कठिनाइयां हैं, या नहीं हैं, और उसका ब्रह्मचर्य-पालनके साथ कितना अधिक निकट संबंध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रतके पालनका शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

अस्तेय

मंगलप्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेयव्रतपर आते हैं। गंभीरतासे विचारनेपर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्यके गर्भमें स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाए जा सकते हैं :

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय इत्यादि। चाहे तो हम इस क्रमको और बढा सकते है
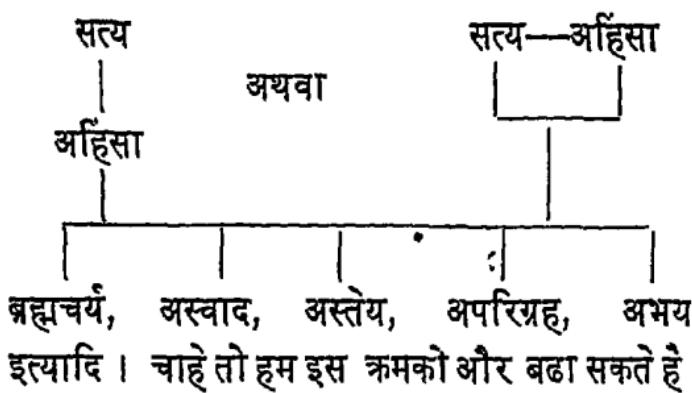
सत्यमेसे अहिंसाकी उत्पत्ति अथवा सत्य औ अहिंसाका जोड़ा मान सकते है। दोनो वस्तुएं एव ही है, तथापि मेरा मन पहलेकी ओर झुकता है अंतिम स्थिति जोड़ेसे—द्वंद्वसे—अतीत है। परम सत्य अकेला स्थित रहता है। (सत्य साध्य है, अहिसा साधन है।) अहिसाको हम जानते है, यद्यपि पालन कठिन है। सत्यका तो केवल अंश ही जानते है पूर्णरूपसे उसका जानना देहीके लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देहीके लिए अहिंसाका पूर्ण पालन।

अस्तेयका अर्थ है चोरी न करना। चोरका सत्यको जानना या प्रेम-धर्मका पालन संभव नही है तथापि हम सब, थोडा-बहुत चोरीका दोष जाने-अनजाने करते है। दूसरेकी चीजको उसकी आज्ञाके विना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली

चीजकी भी चोरी करता है—जैसे, एक बाप अपने बच्चोको जनाए बिना, उससे छिपानेकी नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रमका भडार हम सभीका कहलाएगा, पर उसमेसे चुपकेसे गुडकी एक डली भी लेनेवाला चोर है। दूसरे लडकेकी कलम लेनेवाला लडका भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेनेमे भी चोरी है। पडुआ (राहमे पडी) चीजके मालिक हम नही है, बल्कि उस प्रदेशका राज या वहांकी सरकार है। आश्रमके नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रमके मत्रीको सौपनी चाहिए। आश्रमकी न होनेपर मंत्री उसे पुलिसके हवाले करेगा।

यहातक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है, पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीजकी जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकारमे वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी ससारमे ज्यादा-से-ज्यादा खानेकी चीजोके सबधमे होती है। मुझे अमुक फलकी जरूरत नही है, फिर भी मै उसे खाता हू या जरूरतसे ज्यादा खाता

हूं, तो यह चोरी है । वस्तुत अपनी आवश्यकताकी मात्राको मनुष्य हमेशा जानता नही है और प्राय हम सब, अपनी जरूरतोंको आवश्यकतासे अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते है। विचारनेपर मालूम होगा कि हम अपनी वहुतेरी जरूरतोंको घटा सकते है । अस्तेयव्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताए कम करता जायगा । इस ससारमें अधिकतर दरिद्रता अस्तेयके भगसे पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियोको बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए । इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है । मनसे हमारा किसीकी चीज पानेकी इच्छा करना या उसपर झूठी नजर डालना चोरी है । सयाने या बच्चेका, किसी अच्छी चीजको देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीरसे तो नही खाता, पर दूसरोको खाते देखकर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता है और अपना उपवास भग करता है। जो उपवासी मनमे उपवासके वदले भोजनके मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेगे कि वह अस्तेय और उपवासका भग करता है। अस्तेयव्रतका पालनकर्ता भविष्यमे

मिलनेवाली चीजोके चक्करमे नही पड़ता। अनेक चोरियोके मूलमे यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचारमे होती है, कल उसे पानेको हम भले-बुरे तरीके काममे लाते है।

वस्तुकी भाति ही विचारोकी चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमे नही सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमे ही वह पहले सूझा, विचारकी चोरी करना है। ससारके इतिहासमें ऐसी चोरी अनेक विद्वानोने भी की और आज कर रहे है। मान लीजिए कि मैने आंध्रमे नए ढगका एक चरखा देखा, वैसा चरखा मै आश्रममे बनाऊं और फिर कहू कि यह तो मेरा आविष्कार है। तो इसमे मै स्पष्ट रूपसे दूसरेके आविष्कारकी चोरी करता हूं और इसमे असत्यका आसरा तो लेता ही हूं। अत अस्तेयव्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बडी सादगीसे रहनेकी जरूरत पड़ती है।

: ६ :

अपरिग्रह

मंगलप्रभात

२६-८-३०

अपरिग्रहको अस्तेयसे संबंधित समझना चाहिए। वास्तवमें चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरीका-सा माल हो जाता है। परिग्रहका अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अत यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओंका, भक्तोंका यह अनुभव है। रोजके कामभरका रोज पैदा करनेके ईश्वरीय नियमको हम नही जानते, अथवा जानते हुए भी पालते नही है। अत जगतमें विषमता और उससे होनेवाले दु:ख भोगते हैं। धनीके घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती है, मारी-मारी फिरती है, खराब होती रहती है, दूसरी ओर उनके अभावमें करोड़ों मनुष्य भटकते

फिरते है, भूखो मरते है, जाड़ेसे ठिठुरते है। यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभरको ही सग्रह करे तो किसीको तगी न हो और सबको सतोष रहे। आज तो दोनो ही तगी अनुभव करते है। करोडपति अरबपति होनेको छटपटाता है, उसे सतोष नही रहता, कगाल करोडपति होना चाहता है। उसे पेट भरनेभरको ही पाकर सतोष होता दिखाई नही देता, परतु कगालको पेटभर पानेका अधिकार है और समाजका धर्म है कि उसे उतना प्राप्त करा दे। अत उसके और अपने सतोषके लिए शुरुआत धनी-को करनी चाहिए। वह अपना अत्यंत परिग्रह त्याग दे तो दरिद्रके काममभरको सहजमें मिल जाय और दोनो पक्ष संतोषका सबक सीखे। आदर्श, आत्यतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मनसे और कर्मसे दिगबर है। यहातक कि वह पक्षीकी भाति विना घरके, विना वस्त्रोके और विना अन्नके विच-रण करता है। अन्न तो उसे रोजकी जरूरतभरको भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थितिको तो विरले ही पहुंच सकते है। हम मामूली दर्जेके सत्या-ग्रहके जिज्ञासुओको तो चाहिए कि आदर्शको ध्यानमे रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जांच करते रहें

और जहांतक बने उसे घटाते रहे। सच्चे सुधारका, सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढाना नही है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जानेसे सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता जाता है सेवा-शक्ति बढती है। इस दृष्टिसे विचारने और बरतनेपर हमे मालूम होगा कि आश्रममे हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते है कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे पड़ोसीको चोरी करनेके लालचमे फँसाते है। अभ्यासमे मनुष्य अपनी आवश्यकताओको घटा सकता है और ज्यों-ज्यो घटाता जाता है त्यों-त्यो वह सुखी, शात और सब तरहसे आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्यकी, आत्माकी दृष्टिसे विचारिए तो शरीर भी परिग्रह है। भोगकी इच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छाके अत्यत क्षीण हो जानेपर शरीरकी जरूरत नही रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजडेमे कैसे बद रह सकता है? यह पिंजड़ा बनाए रखनेको अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरेको कैसे मार सकता है? यो विचार करते हुए हम आत्यतिक त्यागको पहुच जाते है और शरीरकी

स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते है और यहातक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खूराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊघना सब सेवाके लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अंतमे सत्यकी झाकी करेगा। इस दृष्टिसे हम सबको अपने परिग्रहपर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखे कि वस्तुओकी भाति, विचारका भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमागमे निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमे ईश्वरसे विमुख रखते हो अथवा ईश्वरके प्रति न ले जाते हो वे सब परिग्रहके अदर आते है और इसलिए त्याज्य है। भगवानकी तेरहवे अध्यायमे दी हुई ज्ञानकी यह परिभाषा हमे खयालमे लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही—तो हम आज जो बहुत कुछ ज्ञानके नामसे संग्रह करते है, वह अज्ञान ही है और उससे लाभके बदले हानि होती है, दिमाग फिर जाता है, अंतमे खाली हो जाता है; असतोष फैलता है

और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नही कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए, पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्यकी ओर ले जानेवाली। जिसने 'सेवाधर्म स्वीकार किया है वह क्षणभर भी सुस्त नही रह सकता। यहा तो सारासारका विवेक सीखनेकी बात है। सेवा-परायण-को यह विवेक सहज-प्राप्त होता है।

: ७ :

अभय

मंगलप्रभात

२-९-३०

सोलहवे अध्यायमे दैवी सपद्का वर्णन करते हुए भगवानने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवादमे मै नही पड़ता कि ऐसा श्लोककी सगतिके सुविधार्थ या अभयको प्रथम स्थान देनेके औचित्यकी दृष्टिसे है। न यह निर्णय करनेकी मुझमे योग्यता है। मेरी समझमे अभयको अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभयके बिना दूसरी संपत्तियां नही मिल सकती।

अभयके बिना सत्यकी खोज कैसे हो सकती है ? अभयके बिना अहिंसाका पालन कैसे हो सकता है ? हरिके मार्गपर चलना खाडेकी धारपर चलना है, वहा कायरका काम नही है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक। वीरके मानी हैं भयमुक्त, तलवारादि लटकानेवाला नही। तलवार शूरताका चिह्न नहीं; बल्कि भीरुताकी निशानी है ।

अभयके मानी है बाहरी भयमात्रसे मुक्ति—मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुंब-परिवारविषयक भय, रोगभय, शस्त्रप्रहारका भय। प्रतिष्ठाका भय, किसीके बुरा माननेका भय। भयकी यह पीढ़ी चाहे जितनी लंबी बढ़ाई जा सकती है। साधारणत कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भयको जीत लिया तो सब भयोको जीत लिया, परंतु यह यथार्थ नही जान पड़ता। बहुतेरे मौतका भय छोड़ देते है, तथापि अन्य प्रकारके दु खोंसे भागते हैं। कुछ मरनेको तैयार होनेपर भी सगे-सबधियोंका वियोग सहन नही कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवाह नही करेगा, देह छोड देगा, पर बटोरा हुआ धन छोडते घबराएगा। कोई होगा जो

अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करनेको तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसारकी निंदाके भयसे, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करनेमे हिचकिचाएगा। सत्यकी खोज करनेवालेका तो समस्त भयोको तिलाजलि दिए बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चंद्रकी भाति मिट जानेकी तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चंद्रकी कथा कल्पित हो, पर आत्मार्थी मात्रका यह अनुभव है। अत. उस कथाकी कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथासे अनंतगुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा मननीय है।

अभयव्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्रसे मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोहरहित स्थितिकी पराकाष्ठा है। निश्चय करनेसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढनेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरंभमे ही कहा है कि हमे बाहरी भयोसे मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद है उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादिका भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेनेसे बाहरी भयोका उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देहके कारण

है। देहविषयक राग दूर हो जानेसे अभय सहजमे प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टिसे मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी उपज है। धनसे, परिवारसे, शरीरसे 'अपनापन' हटा दे तो फिर भय कहा? 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'—यह रामबाण वचन है। कुटुब, धन, देह ज्यो-के-त्यो रहे, कोई आपत्ति नही, इनके बारेमे अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नही, वह 'मेरे' नही है, यह ईश्वरके है, 'मै' उसीका हू, 'मेरी' कहलानेवाली इस ससारमे कोई भी वस्तु नही है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है? इसलिए उपनिषत्कारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बने। वह उसकी रक्षा करनेभरकी ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहे तो सहजमे भयमात्रको जीत ले, सहजमे शाति पा जायं, सत्यनारायणके दर्शन प्राप्त कर ले।

: ८ :

अस्पृश्यता-निवारण

मंगलप्रभात
९-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रतकी भाति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है। पर जितना विचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहा-तहां धर्ममे, धर्मके नाम या वहानेसे विघ्न डालती है और धर्मको कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नही। जैसे भगी, चमार अछूत माने जाते है, पर अछूत नही है, वैसे मृतक (लाश) भी अस्पृश्य नही है, वह आदर और करुणाका पात्र है। मुर्देको छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवानेके वाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उचित है। मुर्देको छूकर या तेल लगाकर न नहाने-वालेको गंदा भले ही कहिए, पर वह पातकी नही है, पापी नही है। यो तो बच्चेका मैला उठानेपर माता जबतक न नहाए या हाथ-पैर न धोए तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते

उसे छू ले तो वह छुआता नही, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कारसूचक हो गए है और वह जन्मसे ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनो साबुन बरसोंतक शरीरपर घिसा हो, चाहे वैष्णवका-सा भेस रखता हो, माला-कठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखकका पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नही है, यह अधर्म है और नाशके योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारणको व्रतमे स्थान देकर यह मानते है कि अस्पृश्यता—छुआछूत हिंदू-धर्मका अग नही है। इतना ही नही, बल्कि उसमे घुसी हुई सडन है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिंदूका धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अत उसे पाप माननेवालोको चाहिए कि उसका प्रायश्चित्त करे। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित्तरूपसे भी धर्म समझकर हिंदूको चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहनको अपनावे, प्रेमपूर्वक सेवा-भावसे उसे स्पर्श करे, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझे। अछूतके दुख दूर करे। कुचले जानेके कारण उसमे पैठे हुए अज्ञानादि दोपोको धैर्यपूर्वक

दूर करनेमें उन्हें सहायता दें और दूसरे हिंदुओंको भी ऐसा करनेको राजी करे, प्रेरित करे। अस्पृश्यताको इस दृष्टिसे देखते हुए उसे दूर करनेमें होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामोंको व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों, तथापि अस्पृश्यता-निवारणका व्रतरूपसे आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालोंको अपनाएगा। सत्यादिका आचरण करते हुए हमें ऐहिक फलका विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारीके लिए कोई युक्ति नहीं है, वह तो उसके शरीरसे लगी हुई वस्तु है, उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यताकी बुराई समझमें आ जानेपर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी-चमार कहलानेवाले लोगोंतक ही सीमित रही हो, सो बात नहीं है। सड़नका स्वभाव है कि पहले राईके दानेके बराबर लगती है, फिर पर्वतका रूप धारण कर लेती है और अंतमें जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछूतके संबंधमें भी है। यह छुआछूत विधर्मियोंके प्रति आई है, अन्य संप्रदायोंके प्रति आई है, एक ही संप्रदायवालोंके बीच भी घुस गई है और यहांतक कि कुछ लोग

तो छूआछूतका पालन करते-करते पृथ्वीपर भाररूप हो गए हैं। वे अपने आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीनेसे फुर्संत नही पाते, ईश्वरके नामपर ईश्वरको भूलकर वे अपनेको पूजने लग गए है। अत अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी-चमारको अपनाकर ही सतोष न मानेगा, वह जीव-मात्रको अपनेमे न देखनेतक और अपनेको जीवमात्रमें न होनेतक शात न होगा। अस्पृश्यता दूर करनेका अर्थ है समस्त ससारके साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टिसे अस्पृश्यता-निवारण अहिंसा-का जोड़ा बन जाता है और वास्तवमे है भी। अहिंसाके मानी है जीवमात्रके प्रति पूर्ण प्रेम। अस्पृ-श्यता-निवारणका भी यही अर्थ है। जीवमात्रके साथ-का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है। अस्पृश्यता-को यों देखनेपर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशोमे संसारभरमे फैला हुआ है; पर यहा हमने उसका हिंदूधर्ममे समाई हुई सड़नके रूपमे विचार किया है, क्योकि हिंदूधर्ममे उसने धर्मका स्थान ले लिया है और धर्मके बहाने लाखो या करोड़ो मनुष्योंकी स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

: ६ :

कायिक श्रम

मगलप्रभात

१६–९–३०

कायिक श्रमके मनुष्यमात्रके लिए अनिवार्य होने-की बात पहले-पहल टाल्स्टायके एक निबधसे मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूपसे इस बातको जाननेके पहले, रस्किनका 'अन्टु दिस लास्ट' पढनेके बाद फौरन ही उसपर मै अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर'का शब्दश· अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर'का शब्दश. अनुवाद है 'रोटी (के लिए) -श्रम'। रोटीके लिए हर आदमीका मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टायकी नही, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरि-चित रूसी लेखक बुर्नोहकी है। टाल्स्टायने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आखे भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमे पा रही है। यज्ञ किए बिना खानेवाला चोरीका अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञके लिए है। यहां यज्ञका अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है

और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रतकी यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तुकी ओर हमे ले जाती है। मजदूरी न करने-वालेको खानेका क्या अधिकार हो सकता है? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।" करोड़पति भी यदि अपने पलंगपर पडा रहे और मुंहमे किसीके खाना डाल देनेपर खाय तो बहुत दिनोंतक न खा सकेगा। उसमे उसके लिए आनद भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूपमे राजा-रक सभीको अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करनेकी ही कसरत सब लोग क्यों न करे? किसानसे हवा खाने या कसरत करनेको कोई नहीं कहता। और संसारके सैकड़े नव्वेसे भी अधिक मनुष्योंका निर्वाह खेतीसे होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करे तो ससारमे कितना सुख, कितनी शाति और कितना आरोग्य फैले? यदि खेतीके साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेतीके कामकी अनेक

कठिनाइयां सहजमे दूर हो जायं। इसके सिवा यदि कायिक श्रमके इस निरपवाद नियमको सभी मानने लगे तो ऊंच-नीचका भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चताकी गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्थामे भी वह घुस गई है। मालिक-मजदूर-का भेद सर्वव्यापक होगया हैऔर गरीब अमीरसे ईर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटीके लिए खुद मेहनत करे तो ऊंच-नीचका भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धनका केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत. केवल लोक-सेवाके लिए करेगा। जिसे अहिंसाका पालन करना है, सत्यकी आराधना करनी है, उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाणरूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तवमें देखा जाय तो, खेती ही है। पर आजकी जो स्थिति है उसमें सब उसे नही कर सकते। इस-लिए खेतीका आदर्श ध्यानमें रखकर, आदमी एवजमें दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मलत्याग तो करना ही पडता है। मल-त्याग करनेवालेका

ही अपने मलको गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षोंसे ऐसा मालूम होता रहा है कि जहा भंगीका अलग धंधा माना गया है वहा कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नही है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्यको किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवालेने हमपर उपकार तो नही ही किया। हम सभी भगी है यह भावना हमारे दिलमे बचपनसे दृढ हो जानी चाहिए और इसे करनेका सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हो वे कायिक श्रमका आरंभ पाखाना साफ करनेसे करे। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षणसे धर्मको भिन्न और सच्चे रूपमे समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोगसे अपग बने हुए यदि परिश्रम न करे तो उसे कोई अपवाद न माने। बालकका समावेश मातामे हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भग न हो तो बूढ़े अपंग न होगे और रोगके होनेकी बात ही क्या है?

•

: १० :

सर्वधर्म-समभाव

१

मंगलप्रभात

२३-९-३०

हमारे व्रतोंमें सहिष्णुताके नामसे परिचित व्रतको यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसंद न था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नही था। काका साहबको भी यह नही रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नही जंचा। दूसरे धर्मोको सहनेकी भावनामे उनमे न्यूनता मानी जाती है। आदरमे कृपाका भाव आता है। अहिंसा हमे दूसरे धर्मोके प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसाकी दृष्टिसे पर्याप्त नही है। दूसरे धर्मोके प्रति समभाव रखनेके मूलमे अपने धर्मकी अपूर्णता स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्यकी आराधना, अहिंसाकी कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्यको यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्यके आग्रहकी क्यो बात थी? तब तो

हम परमेश्वर हो गए होते; क्योकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्यको पहचानते नही है, इसलिए उनका आग्रह करते है। इसीसे पुरुषार्थकी गुजाइश है। इसमे अपनी अपूर्णताकी स्वीकृति आ गई। यदि हम अपूर्ण है तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतत्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नही है, वैसे ही जैसे ईश्वरको नही देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमे सदा परिवर्त्तन होते रहते है, होते रहेंगे। यह होनेसे ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते है, सत्यकी ओर, ईश्वरकी ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ सकते है। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मोको अपूर्ण मान लेते है तो फिर किसीको ऊच-नीच माननेकी बात नही रह जाती। सभी सच्चे है, पर सभी अपूर्ण है, इसलिए दोषके पात्र है। समभाव होनेपर भी हम उनमे दोष देख सकते है। हमे अपनेमे भी दोष देखना चाहिए। उस दोषके कारण उसका त्याग न करे, बल्कि दोषको दूर करे। इस प्रकार समभाव रखनेसे दूसरे धर्मोके ग्राह्य अशको अपने धर्मंमे लेते सकोच न होगा। इतना ही नही, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त है, पर मनुष्य-कल्पित होनेके कारण, मनुष्यद्वारा उनका प्रचार होनेके कारण वे अपूर्ण है। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषामे मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी दृष्टिसे, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे है। पर झूठा होना भी असंभव नही है। इसीलिए हमे सब धर्मोके प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्मके प्रति उदासीनता नही आती, बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मोके प्रति समभाव आनेपर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते है। धर्मांधता और दिव्यदर्शनमे उत्तर-दक्षिण जितना अंतर है। धर्मज्ञान होनेपर अंतराय मिट जाते है और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभावके विकाससे हम अपने धर्मको अधिक पहचान सकते है।

यहा धर्म-अधर्मका भेद नही मिटता। यहा तो उन धर्मोकी बात है जिन्हे हम निर्धारित धर्मके रूपमें जानते है। इन सभी धर्मोके मूल सिद्धात एक ही है। सभीमे संत स्त्री-पुरुष हो गए है, आज भी

मौजूद है। इसलिए धर्मोके प्रति समभावमें, और धर्मियों—मनुष्योंके प्रति जिस समभावकी बात है उसमें, कुछ अंतर है। मनुष्यमात्र—दुष्ट और श्रेष्ठके प्रति, धर्मी और अधर्मीके प्रति समभावकी अपेक्षा है, पर अधर्मके प्रति वह कदापि नही है।

तव प्रश्न यह होता है कि बहुतसे धर्मोकी आवश्यकता क्या है? हम जानते है कि धर्म अनेक है। आत्मा एक है, पर मनुष्य देह अगणित है। देहकी असंख्यता टाले नही टल सकती, तथापि आत्माकी एकताको हम पहचान सकते है। धर्मका मूल एक है, जैसे वृक्षका, पर उसके पत्ते असंख्य है।

: ११ :

सर्वधर्म-समभाव

२

मंगलप्रभात

३०–९–३०

यह विषय इतने महत्वका है कि इसे यहां और विस्तारसे लिखना चाहता हूं। अपना कुछ अनुभव लिख दूं तो शायद समभावका अर्थ अधिक स्पष्ट

हो जाय। यहांकी तरह फिनिक्समे भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहां हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लडके प्राय. उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजीको 'मनेवालुं-वहालु दादा रामजीनुं नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक वार मगन-लाल या काशी हम सवको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लासमे वोल उठे, " 'दादा रामजी'के वदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गानेवालोने इस सूचनापर तुरंत इस तरह अमल किया मानो वह विलकुल स्वाभाविक हो। और इसके वादसे रुस्तमजी जव उपस्थित होते तव तो अवश्य ही, और वे न होते तव भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द'के नामसे गाते। स्व० दाऊद सेठका पुत्र हुसेन तो आश्रममे बहुत वार रहता। वह प्रार्थनामे उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद वहुत मधुर सुरमे 'आर्गन'के साथ 'यह बहारे बाग-दुनिया चद रोज' गाया करता और वह भजन हम सवको उसने सिखा दिया था। वह वहुत वार प्रार्थनामे गाया जाता था। हमारे यहांकी आश्रम-भजनावलीमे उसे स्थान मिला है, वह सत्य-प्रिय

११

हुसेनकी स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परतासे सत्यका आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नही देखा। जोसफ रोयपेन आश्रममे अकसर आते जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन'वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीतका उन्हे अच्छा ज्ञान था। उन्होने 'वैष्णव-जन'के स्थानपर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिए' अलाप दिया। सबने तुरंत उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफके आनदका पारावार न रहा।

आत्मसंतोषके लिए जब मै भिन्न-भिन्न धर्म-पुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जर-थुस्ती, यहूदी और हिंदू इतनोकी पुस्तकोंका अपने संतोषभरके लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हू कि इस अध्ययनके समय सभी धर्मोंके प्रति मेरे मनमे समभाव था। मै यह नही कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्दका भी पूरा परिचय न रहा होगा, परंतु उस समयकी अपनी स्मृतियां ताजी करता हू तो मुझे याद नही आता कि उन धर्मोंके संबंधमें टीका-टिप्पणी करनेकी इच्छातक हुई हो। वरन् उनके ग्रंथोको धर्मग्रंथ मानकर आदरपूर्वक पढता और सबमें मूल नैतिक

सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बाते मैं नही समझ सकता था। यही बात हिंदू-धर्मग्रंथोके सबधमे भी थी। आज भी कितनी ही बाते नही समझता; पर अनुभवसे देखता हूं कि जिसे हम नही समझ सकते वह गलत ही है, यह माननेकी जल्द-बाजी करना भूल है। कितनी ही बाते पहले समझमें नही आती थी, वे आज दीपककी तरह दिखाई देती हैं। समभावका अभ्यास करनेसे अनेक गुत्थियां अपने आप सुलझ जाती है और जहा हमे दोष ही दिखाई दे, वहा उन्हे दरसानेमे भी नम्रता और विवेक होनेके कारण किसीको दुःख नही होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेखमें मैंने कहा है कि धर्म-धर्मका भेद रहता है और धर्मके प्रति समभाव रखनेका अभ्यास करना यहां उद्देश्य नही है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्मका निर्णय करनेमे ही क्या समभावकी शृखला नही टूट जाती? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी सभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परतु हममे यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभावमेसे बच जाते है; क्योकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्मका आचरण करनेवालेके प्रति तो

प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमे दिखाएगा। या दोनो एक-दूसरेके मतभेदको सहन करेंगे। अंतमे विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरतासे काम लेगा। तो भी हम अहिंसाके सच्चे पुजारी होगे तो इसमे सदेह नही कि हमारी मृदुता उसकी कठोरताको अवश्य दूर कर देगी। दूसरेको, भूलके लिए भी, हमे पीड़ा नही पहुचानी है। हमे खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियमका पालन करनेवाला सभी सकटोमेसे वच जाता है।

: १२ :

नम्रता

मंगलप्रभात

७–१०–३०

इसे व्रतोमे पृथक् स्थान नही है और हो भी नही सकता। अहिंसाका यह एक अर्थ है, अथवा यो कहिए कि उसके अतर्गत है; परंतु नम्रता अभ्याससे प्राप्त नही होती, वह स्वभावमे ही आ जानी चाहिए। जव आश्रमकी नियमावली पहलेपहल

वनी तव मित्रोंके पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास वैनर्जीने नम्रताको व्रतोमे स्थान देनेकी सूचना की थी और तव भी उसे व्रतोंमे स्थान न देनेका मैंने वही कारण वतलाया था जो यहां लिख रहा हू। यद्यपि व्रतोमे उसे स्थान नही है तथापि वह व्रतोकी अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है, आवश्यक तो है ही। परंतु नम्रता किसीको अभ्याससे प्राप्त होती नही देखी गई। सत्यका अभ्यास किया जा सकता है, दयाका अभ्यास किया जा सकता है, परतु नम्रताके सवधमे, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दभका अभ्यास करना है। यहा नम्रतासे तात्पर्य उस वस्तुसे नही है जो वडे आदमियोमें एक दूसरेके सम्मानार्थ सिखाई-पढाई जाती है। कोई वाहरसे दूसरेको साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मनमे उसके सवधमे तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नही, लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनिसरीखा वनकर समाजमे वैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नही, पाखडी है। नम्र मनुष्य खुद नही जानता कि कव वह नम्र है। सत्यादिका नाप हम अपने पास रख सकते है, पर नम्रताका नही। स्वाभाविक नम्रता छिपी नही

रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नही देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्रका उदाहरण तो आश्रममे हम लोगोने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यतातक पहुच जानी चाहिए। हम कुछ है, यह भूत मनमे घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टीमे मिल गए। व्रत-पालन करनेवाला यदि मनमे अपने व्रत-पालनका गर्व रखे तो व्रतोका मूल्य खो देगा और समाजमे विषरूप हो जायगा। उसके व्रतका मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रताका अर्थ है अहभावका आत्यतिक क्षय। विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इस ससारमे जीवमात्र एक रजकण-की अपेक्षा अधिक कुछ नही है। शरीरके रूपमे हम लोग क्षणजीवी है। कालके अनंत चक्रमे सौ वर्षका हिसाब किया ही नही जा सकता, परंतु यदि हम इस चक्करसे बाहर हो जायं, अर्थात् 'कुछ नही हो जाय,' तो हम सब कुछ हो जाय। होनेका अर्थ है ईश्वरसे—परमात्मासे—सत्यसे—पृथक् हो जाना। कुछका मिट जाना परमात्मामे मिल जाना है। समुद्रमे रहनेवाला बिंदु समुद्रकी महत्ताका उपभोग करता है, परंतु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्रसे

अलग होकर ज्यो ही अपनेपनका दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवनको पानीके वुलवुलेकी उपमा दी गई है, इसमें मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नही दिखाई देती।

ऐसी नम्रता—शून्यता—अभ्याससे कैसे आ सकती है? पर व्रतोको सही रीतिसे समझ लेनेसे नम्रता अपने आप आने लगती है। सत्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है? दूसरेके लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा? उसने तो जव प्राण न्योछावर करनेका निश्चय किया तभी अपनी देहको फेंक दिया। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलाएगी? हिंदू-धर्ममे ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे वहुत जगह आलस्यको, पाखंडको स्थान मिल गया है। वास्तवमें नम्रताका अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परंतु वह सव परमार्थके लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वयं चौवीसो घंटे एक सांस काम करता रहता है, अगड़ाई लेने तकका अवकाश नही लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतद्रित हो गया—हो जाना चाहिए। समुद्रसे अलग हो जानेवाले विंदुके लिए

हम आरामकी कल्पना कर सकते हैं, परंतु समुद्रमें रहनेवाले बिंदुके लिए आराम कहां ? समुद्रको एक क्षणके लिए भी आराम कहां मिलता है ? ठीक यही बात हमारे सबधमें है । ईश्वररूपी समुद्रमें हम मिले और हमारा आराम गया, आरामकी आवश्यकता भी जाती रही । यही सच्चा आराम है । यह महा-अशांतिमें शांति है । इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवमात्रकी सेवाके लिए सर्वार्पणकी आशा रखती है । सबसे निवृत्त हो जानेपर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार । इस अवस्थाका वर्णन करना कठिन है, परंतु अनुभव-गम्य है वह । जिसने सर्वार्पण किया है उसने इसका अनुभव किया है । हम सब अनुभव कर सकते हैं । यह अनुभव करनेके उद्देश्यसे ही हम लोग आश्रममें एकत्र हुए हैं । सब व्रत, सब प्रवृत्तिया यह अनुभव करनेके लिए ही हैं । यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा । केवल उसीको खोजने जानेसे वह प्राप्त नहीं है ।

: १३ :

स्वदेशी

प्रवचनोमे 'स्वदेशी' पर लिखनेका विचार त्याग ही दूगा, क्योकि इससे मैंने राजनैतिक विषयोको न छेडनेका जो सकल्प किया है उसमे कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशीपर केवल धार्मिक दृष्टिसे लिखते भी कुछ ऐसी बाते लिखनी होगी कि जिनका राजनैतिक विषयोंसे परोक्ष सबध है।

: १४ :

स्वदेशी व्रत

स्वदेशीव्रत इस युगका महाव्रत है। जो वस्तु आत्माका धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारणसे आत्माको जिसका भान नही रहा, उसके पालनेके लिए व्रत लेनेकी जरूरत पडती है। जो स्वभावत: निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करनेका व्रत नही लेना रहता। आमिप उसके लिए प्रलोभनकी चीज नही होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आवेगी।

स्वदेशी आत्माका धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषयमे व्रत लेनेकी जरूरत रहती है। आत्माके लिए स्वदेशीका अतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधोसे आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है, क्योकि देह अन्य आत्माओके साथ एकता स्थापित करनेमे बाधक होती है, उसके मार्गमे विघ्नरूप है। जीवमात्रके साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्मको जानने और पालनेवाला देहका भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते है कि अपने पास रहनेवालोकी सेवामे ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते है अथवा उनको हानि होती है, पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशीकी शुद्ध सेवा करनेमे परदेशीकी भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूरकी सेवा करनेका मोह रखनेमे वह हो नही पाती और पडोसीकी सेवा छूट जाती है। यो इधर-उधर दोनो बिगड़ते है। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुबीजन अथवा ग्रामवासियोको मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। दूरवालोकी सेवा करने जानेमे उनकी

सेवा करनेका जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहांका वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़कर चला ही था। यो हर तरहसे उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी-धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे 'स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह' वाक्यकी उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशीको समझ न पानेसे ही गड़बड़ी होती है। कुटुंबपर मोह रखकर मैं उसे पोसूं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपच रचूं, तो यह स्वदेशी नही है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्मकी खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्मके पालनसे परधर्मीको या परधर्मको कभी हानि पहुच ही नही सकती, न पहुंचनी चाहिए। पहुचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नही, बल्कि स्वाभिमान है, अत वह त्याज्य है।

स्वदेशीका पालन करते हुए कुटुबका बलिदान भी देना पडता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें

भी कुटुवकी सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपनेको खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुवको खोकर कुटुवकी रक्षा कर सकते है। मानिए, मेरे गावमे महामारी हो गई। इस बीमारीके चगुलमे फँसे हुओकी सेवामे मैं अपनेको, पत्नीको, पुत्रोको, पुत्रियोको लगाऊं और इस रोगमे फँस-कर मौतके मुंहमे चले जायं तो मैंने कुटुवका संहार नही किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशीमें स्वार्थ नही है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ यानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थकी परा-काष्ठा।

इस विचारधाराके अनुसार मैंने खादीमे सामा-जिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सवकी समझमे आने-योग्य, सभीको जिसके पालनेकी इस युगमे, इस देशमे भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है? जिसके अनायास पालनेमे भी हिंदुस्तानके करोड़ोकी रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है? जवावमे चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्मके पालनमे परदेशी मिलवालोंको नुकसान होता है। चोरको चुराई हुई

चीज वापस देनी पडे या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमे उसे नुकसान नही है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे कलवारको या अफीमके दुकानदारको नुकसान नही, लाभ है। अयोग्य रीतिसे जो अर्थ साधते हो उनके उस अर्थका नाश होनेमे उनको और जगतको फायदा ही है।

पर जो चर्खेद्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-पहनाकर स्वदेशी धर्मका पूर्ण पालन हुआ मान बैठते है वे महामोहमे डूबे हुए है। खादी सामाजिक स्वदेशीकी पहली सीढी है, इस स्वदेशी धर्मकी परिसीमा नही है। ऐसे खादीधारी देखे गए है जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते है। वे स्वदेशीका पालन नही करते। वे तो प्रवाहमे बहनेवाले है। स्वदेशी व्रतका पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहा-जहा पडोसीकी सेवा की जा सकती है अर्थात् जहा-जहा उनके हाथका तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहा-वहा वह दूसरा छोडकर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जेकी ही क्यो न हो। इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवानेका प्रयत्न करेगा।

कायर वनकर, स्वदेशी खराव है इससे, परदेशी काममें नही लाने लग जायगा ।

किंतु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएंमे डूवेगा नही । जो वस्तु स्वदेशमे नही वनती अथवा महा-कष्टसे ही वन सकती है वह परदेशके द्वेषके कारण अपने देशमे वनाने वैठ जाय तो उसमे स्वदेशी धर्म नही है । स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशीका कभी द्वेष नही करेगा । अत पूर्ण स्वदेशीमे किसीका द्वेष नही है । यह सकुचित धर्म नही है । यह प्रेममेसे, अहिंसामेसे पैदा हुआ सुदर धर्म है ।

: १५ :

व्रतकी आवश्यकता

मंगलप्रभात

१४-१०-३०

व्रतके महत्वके सवंधमे मै जहा-तहां इस लेख-मालामे लिख गया होऊंगा; परंतु व्रत जीवनके गठनके लिए कितने आवश्यक है, यहां इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है । व्रतोंके संवंधमे लिख चुकनेके वाद अव उन व्रतोकी आवश्यकतापर विचार करेंगे ।

ऐसा एक संप्रदाय है और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमोंका पालन करना उचित है, पर उनके संबधमे व्रत लेनेकी आवश्यकता नही, इतना ही नही, बल्कि ऐसा करना मनकी निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेनेके बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पडे, यह तो असह्य है।' वे कहते है कि 'उदाहरणके लिए, शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नही पीना चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ? दवाकी भाति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीनेका व्रत यह तो गलेमे फंदा डालनेके समान है। और जो बात शराबके बारेमें है ,वही बात दूसरी चीजोके बारेमे है। झूठ भी भलाईके लिए क्यों न बोला जाय?' मुझे इन दलीलोंमे तत्व नही दिखाई देता। व्रतका अर्थ है अटल निश्चय अड़चनोको पार कर जानेके लिए ही तो व्रतकी आवश्यकता है। असुविधा सहन करनेपर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है समस्त संसारका अनुभव इस बातकी गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चयके बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊप

उठ नही सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय, व्रत नही कहलाता। वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अंतमे पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करनेका धर्म अवश्य प्राप्त होता है, पर ऐसी वस्तुके लिए कोई व्रत नही लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरणकी हमें आदत नही पडी उसके सवधमे व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टातमे तो पापका आभासमात्र सभव है। सत्य कहनेसे किसीकी हानि हो जायगी तो? सत्यवादी ऐसा विचार करने नही बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्यसे इस संसारमे किसीकी हानि नही होती और हो सकती भी नही। मद्य-पानके विषयमे भी यही वात है। या तो इस व्रतमे दवाके लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रतके पीछे शरीरके लिए जोखिम उठानेका भी निश्चय रहना चाहिए। दवाके तौरपर भी शराव न पीनेसे शरीर न रहे तो क्या हुआ? शराव पीनेसे शरीर रहेगा ही इसका पट्टा कौन लिख सकता है? और उस समय शरीर वच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारणसे वह न रहा, तो उसकी जवावदेही

किसके सिर होगी ? इसके विपरीत, शरीर-रक्षाके लिए भी शराब न पीनेके दृष्टांतका चमत्कारिक प्रभाव शराबकी लतमें फँसे हुए लोगोंपर पड़े तो संसारका कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्मका पालन करना ही है—ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वरकी झांकी कर सकते हैं। व्रत लेना निर्बलतासूचक नहीं, वरन् बलका सूचक है। अमुक बातका करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नामसे पुकारें तो उसमें हर्ज नहीं है; परंतु 'जहांतक हो सकेगा करूंगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमानका परिचय देता है, भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे। इसमें नम्रताकी गंधतक नहीं है। मैंने तो अपने और बहुतोंके जीवनमें देखा है कि 'जहांतक हो सकेगा', यह शब्दावली शुभ निश्चयोंमें विषके समान है। 'जहांतक हो सकेगा' वहांतक करनेके मानी है पहली ही अड़चनके सामने गिर पड़ना। 'सत्यका पालन जहांतक हो सकेगा करूंगा' इस वाक्यका कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापारमें यथासंभव अमुक तारीखको अमुक रकम

चुका दी जायगी इस तरहकी चिट्ठी, चेक या हुंडीके रूपमे स्वीकार नही की जाती। उसी तरह जहातक हो सकेगा वहांतक सत्य-पालन करनेवालेकी हुंडी भगवानकी दूकानमे नही भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वय निश्चयकी, व्रतकी सपूर्ण मूर्ति है। उसके नियमोंसे एक अणु भी इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सूर्य महाव्रतधारी है, उससे संसारका काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचागोकी रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपनेको सुरक्षित पाते है। व्यापारमात्र एक पक्की प्रतिज्ञाके आधारपर चलते है। व्यापारी एक दूसरेके प्रति वादेसे वधे न हों तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां हमारे अपने जीवनके गठनका प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वरदर्शन करनेका प्रश्न हो, वहां व्रतके विना कैसे काम चल सकता है? इसलिए व्रतकी आवश्यकताके विषयमें हमारे मनमे कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

आश्रमवासियोंसे

[आश्रमजीवन-विषयक नीति-नियम]

निवेदन

गाधीजीके और हमारे राष्ट्रीय जीवनके अपूर्व अवसरपर उनके पत्रोका यह सग्रह प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ये पत्र आश्रमवासियोको ही संबोधित किये गए हैं तथापि जो अपनेको आश्रमवासी मानते है या आश्रमजीवनका सद्भावसे अभ्यास करते है उनको भी ये बोधप्रद होगे, इस मान्यतासे यह पत्र-सग्रह प्रकाशित किया गया है।

गतवर्षके जेलवासके समान इस वार भी गाधीजीने आश्रम-वासियोके नाम साप्ताहिक प्रवचन लिख भेजनेका नियम जारी रखा। उसके अनुसार आजतक जितने प्रवचन आगए हैं, उनका यह सग्रह है।

पिछले वर्ष उन्होने एक विषय का ही लगातार सिलसिलेवार विवेचन किया था। इसके परिणामस्वरूप 'व्रतविचार' या 'मगलप्रभात' और 'गीताबोध'के १० अध्याय तैयार होगए थे। इसबार शुरूमें उन्होंने 'गीताबोध'के बाकीके अध्यायोको पूरा किया। इसके बाद किसी एक विषय पर सिलसिलेवार पत्र लिखनेके वजाय आश्रम-जीवन विषयक छुट-पुट विचारोको एक दूसरी तरह लिख भेजते रहे। इस प्रकार ये अलग-अलग दिखाई देनेपर भी इन प्रवचनोमें एक ही विषयपर अनेक पहलुओसे चर्चा की गई है। विचक्षण वाचकको इनमें यह मालूम हुए विना नही रहेगा।

हरिजनोद्धारके लिये की गई अनशनव्रतकी भीष्म प्रतिज्ञाके आरम्भके समय तकके प्रवचनोका इस सग्रहमें समावेश हुआ है।

चरखा द्वादशी स० १९८८
सत्याग्रहाश्रम
साबरमती

—नारणदास खु गांधी
मत्री उद्योग मदिर

आश्रमवासियोंसे

: १ :

मृत्युमित्र

यरवदा-मंदिर
२९-२-३२

साक्रेटिस (सुकरात) एथेस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नए, पर नीति-वर्धक विचार राजशक्तिधारियोको न रुचे। इससे उसे मौतकी सजा मिली। उस जमानेमे उस देशमें विषपान करके मर जानेकी सजा भी दी जाती थी। साक्रेटिसको मीराबाईकी तरह जहरका प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटिसने जो अंतिम वचन कहे उनके सारपर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटिसको हम सुकरात कहते हैं, अरब भी इसी नामसे पुकारते हैं।

सुकरातने कहा, "मेरा दृढ विश्वास है कि भले आदमीका इस लोक या परलोकमे अहित होता

ही नही । भले आदमियो और उनके साथियोका ईश्वर कभी त्याग नही करता । फिर मैं तो यह भी मानता हू कि मेरी या किसीकी भी मौत अचानक नही आती । मृत्युदड मेरे लिए सजा नही है । मेरे मरने और उपाधिसे मुक्त होनेका समय आ गया है । इसीसे आपने मुझे ज़हरका प्याला दिया है । इसीमे मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालो या मुझे सजा देनेवालोके प्रति मेरे मनमे क्रोध नही है । उन्होने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके ।

"महाजन-मडलसे मेरी एक विनती है मेरे बेटे अगर भलाईका रास्ता छोडकर कुमार्गमे जाय और धनके लोभी हो जाय तो जो सजा आप मुझे दे रहे है वही उन्हे भी दे । वे दंभी हो जाय, जैसे न हो वैसे दिखानेकी कोशिश करे, तो भी उनको दड दे । आप ऐसा करेगे तो मै और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया ।"

अपनी सतानके विषयमें सुकरातकी यह माग अद्भुत है । जो महाजन-मडल न्याय करनेको बैठा था वह अहिसाधर्मको तो जानता ही न था । इससे सुकरातने अपनी संतानके बारेमे उपर्युक्त प्रार्थना की, अपनी

संतानको चेताया और उससे उसने क्या आशा रखी थी यह बताया। महाजनोंको मीठी फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरातको उसकी भलमनसीके लिए सजा दी थी। सुकरातने अपने बेटोंको अपने रास्तेपर चलनेकी सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंसके नागरिकोंको बताया वह उसके लड़कोंके लिए भी है। और वह यहांतक कि अगर वे उस रास्तेपर न चले तो वे दंडके योग्य समझे जाय।

: २ :

शिक्षाके विषयमें कुछ विचार

यरवदा-मंदिर
२८-३-३२

जॉन रस्किन उत्तम प्रकारका लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था। उसका देहांत १८८०[1] के आसपास हुआ। अधिकांश आश्रमवासियोंको यह बात तो मालूम होनी ही चाहिए कि उसकी एक पुस्तकका

---

[1] जॉन रस्किनका जन्म १८१९ ई० में और मृत्यु १९०० ई० में हुई।—अनु०

मुझपर बहुत ही गहरा असर हुआ और उससे ही प्रेरणा प्राप्त कर मैंने अपने जीवनमे महत्त्वका परिवर्त्तन एक क्षणमे कर डाला। सन् १८७१ मे उसने केवल श्रमिक वर्गको सामने रखकर मासिक रूपमे पत्र या लेख-माला लिखना आरभ किया था। इन पत्रोकी प्रशसा मैंने टाल्स्टायके किसी निबधमें पढी; पर अबतक मै उसके अकोको प्राप्त न कर सका था। रस्किनकी प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्यके विषयपर एक पुस्तक मेरे साथ आई थी, वह मैंने यहां पढी। इसमे भी इन पत्रोका उल्लेख हुआ है। उसे देखकर मैंने विलायतमे रस्किनकी एक शिष्याको लिखा। वही उक्त पुस्तककी लेखिका है। वह बेचारी गरीब ठहरी। अत ये पुस्तकें कहासे भेजती? मूर्खता या मिथ्या विनयवश मैंने उसे यह न लिखा कि आश्रमसे पैसे मगा लेना। उस भली महिलाने मेरा पत्र अपने एक अपेक्षाकृत समर्थ मित्रके पास भेज दिया। वह 'स्पेक्टेटर' पत्रके सपादक थे। उनसे मै विलायतमें मिल भी चुका था। रस्किनके उक्त पत्र पुस्तकाकार चार खडोमे प्रकाशित हुए है। वह उन्होने भेज दिए। उनमेका पहला भाग मै पढ रहा हू। उसके विचार उत्तम है और हमारे बहुतसे विचारोसे मिलते है। यह मेल इतना है कि

अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रममे जो कुछ हम आचरण करते है वह सब रस्किनके इन निबंधोसे चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्दका अर्थ तो समझमे आया ही होगा। जो विचार या आचार जिसके पाससे लिया गया हो उसका नाम छिपाकर वह अपनी कृति है यह दिखाया जाय तो वह चुराया हुआ कहा जायगा।

रस्किनने बहुत लिखा है। उसमेसे थोडा ही इस वक्त देना चाहता हू। रस्किनका कहना है कि यह जो कहा जाता है कि बिलकुल अक्षरज्ञान न होनेसे कुछ भी होना अच्छा है, उसमे गभीर भूल है। उसका स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्माकी पहचान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। अनतर उसने कहा है कि इसी जगत्मे मनुष्यमात्रको तीन पदार्थों और तीन गुणोकी आवश्यकता है। जो इन्हे पनपाना नही जानता वह जीनेका मत्र ही नही जानता। अत ये छ चीजे ही शिक्षाकी नीव-रूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्रको बचपनसे —वह लड़का हो या लडकी—यह जान लेना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी

किसे कहना चाहिए, उन्हे किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणोमे उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेमको गिनाया है। जिसको सत्यादि गुणोकी कदर नही है, जो सुदर वस्तु-को पहचान नही सकता, वह अपने घमडमे भटकता है और आत्मानंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमें आशावाद नही है, अर्थात् जो ईश्वरीय न्यायके विपयमें शकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुल्लित नही रह सकता, और जिसमे प्रेम नही, यानी अहिसा नही, जो जीवमात्रको अपना कुटुबी नही मान सकता, वह जीनेका मत्र कभी साध नही सकता।

इस विषयपर रस्किनने अपनी चमत्कारभरी भाषामे बहुत विस्तारसे लिखा है। इसे तो किसी वक्त अपने समाजके समझने लायक रूपमे लिख सकू तो अच्छा ही है। आज तो इतनेसे ही संतोष कर लेता हूं। साथ ही यह कह देना चाहता हू कि जिन बातोको हम अपने गंवारू शब्दोमे सोचते आए है और जिन्हे आचारमे उतारनेका यत्न कर रहे है लगभग उन्ही सब-को रस्किनने अपनी प्रौढ और सुसस्कृत भाषामे, अग्रेजी-भाषी जनता समझ सके इस रीतिसे, प्रकट किया है। यहा मैने तुलना दो भिन्न भाषाओकी नही की

है, बल्कि दो भाषाशास्त्रियोंकी की है। रस्किनके भाषाशास्त्रके ज्ञानका मुकाबला मुझ-जैसा आदमी नहीं कर सकता। पर ऐसा समय अवश्य आयगा जब कि मातृभाषा का प्रेम बढ़ेगा, उस समय भाषा के पीछे मेहनत करने वाले विद्वान रस्किन की प्रभावशाली अंग्रेजी जैसी जोरदार गुजराती लिख सकेंगे।

: ३ :

आकाशदर्शन

१

यरवडा-मंदिर

११-४-३२

सत्यके पुजारीका रस अनंत होता है। सत्य-नारायणकी झांकीके लिए वह अपने आपको कभी बूढा नहीं मानता। जो हर काम सत्यरूप ईश्वरके ही प्रीत्यर्थ करता है, जो सर्वत्र सत्यको ही देखता है, उसके लिए बुढापा विघ्नरूप नहीं होता। सत्यार्थी अपने ध्येयको ढूढनेके लिए अमर है, अजर है।

यह सुदर स्थिति मैं तो बरसोसे भोग रहा हू।

जिस ज्ञानसे जान पडे कि मै सत्यदेवके अधिक पास पहुच रहा हू उसके पीछे जानेमे बुढापा मुझे बाधक नही हुआ। इसकी ताजा मिसाल मेरे लिए आकाशदर्शन है। आकाशका सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा तो अतरमे अनेक बार उपजी; पर मैंने यह मान लिया था कि मेरे और काम मुझे इस ओर लगनेकी इजाजत न देंगे। यह खयाल गलत भले ही हो, पर जबतक मेरा मन अपनी भूल न देख ले तबतक तो वह मेरे लिए रुकावट बनेगी ही। सन् '२२ के कारावासमे भाई शंकर-लालको प्रेरणा करनेवाला बहुत करके मै ही था। उस विषयकी पुस्तके मंगाई गईं। भाई शकरलालने तो इतनी जानकारी कर ली कि जितनेसे उन्हे संतोष हो जाय। मुझे फुर्सत न मिली।

सन् '३०-३१ मे काका साहबका सत्सग मिला। उन्हे इस विषयका अच्छा ज्ञान है। पर मैंने उनसे उसे न पाया। इसलिए कि उस वक्त मुझे सच्ची जिज्ञासा न थी। १९३१मे कारावासके आखिरी महीनेमे यकायक शौक जगा। बाह्य दृष्टिसे जहां सहज ही ईश्वर रहता हो उसका निरीक्षण मै क्यो न करूं? पशुकी तरह आंखे महज देखा करे, पर जिसे देखे वह विशाल दृश्य ज्ञानतंतुतक न पहुंचे, यह कैसा दयनीय है? ईश्वरकी

महान् लीलाके निरखनेका यह सुयोग कैसे जाने दिया जाता ? यो आकाशको पहचान लेनेकी जो तीव्र इच्छा उपजी उसे अब छिपा रहा हूं और यहांतक आया हूं कि आश्रमवासियोको मेरे मनमे उठनेवाली तरंगोमे साभी बनाये विना अब नही रहा जाता।

हमें बचपनसे यह सिखाया गया है कि हमारा शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नामके पंचमहाभूतका बना हुआ है। इन सभीके विषयमे हमें थोडा बहुत ज्ञान होना ही चाहिए, फिर भी इन तत्त्वो-के विषयमे हमे बहुत थोड़ी जानकारी है। इस समय तो हमें आकाशके विषयमे ही विचार करना है।

आकाशके मानी है अवकाश—खाली जगह। हमारे शरीरमे अवकाश न हो तो हम क्षणभर भी न जी सके। जो बात शरीरके विषयमे है वही जगतके विषयमे भी समझनी चाहिए। पृथ्वी अनंत आकाशसे घिरी हुई है, हम अपने चारों ओर जो आसमानी रग-की चीज देखते है वह आकाश है। पृथ्वीके छोर—सीमा है। वह ठोस गोला है। उसकी धुरी ७९०० मील लवी है, पर आकाश पोला है। उसकी धुरी माने तो उसका कोई ओर-छोर न होगा। इस अनंत आकाशमे पृथ्वी एक रजकणके समान है

और उस रजकणपर हम तो रजकणके भी ऐसे तुच्छ रजकण है कि उसकी कोई गिनती ही नही हो सकती। इस प्रकार शरीररूपसे हम शून्य है, यह कहनेमें तनिक भी अतिशयोक्ति या अल्पोक्ति नही। हमारे शरीरके साथ तुलना करते हुए चींटीका शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वीके साथ तुलना करनेमे हमारा शरीर उससे हजारों गुना तुच्छ है। तब उसका मोह क्यों हो? वह छूट जाय तो शोक क्यो करे?

पर इतना तुच्छ होते हुए भी इस शरीरकी भारी कीमत है, क्योकि वह आत्माका और हम समझे तो परमात्माका—सत्यनारायणका—निवासस्थान है।

यह विचार अगर हमारे दिलमे बसे तो हम शरीर-को विकारका भाजन बनाना भूल जायं; पर अगर हम आकाशके साथ ओतप्रोत हो जायं और उसकी महिमा तथा अपनी अधिकाधिक तुच्छताको समझलें तो हमारा सारा घमंड चूर हो जाय। आकाशमे जिन असंख्य दिव्य गणोके दर्शन होते है वे न हों तो हम भी न हो। खगोलवेत्ताओने बहुत खोज की है, फिर भी हमारा आकाशविषयक ज्ञान नहीके बराबर है। जितना है वह हमे स्पष्ट रीतिसे बताता है कि आकाश-मे सूर्यनारायण एक दिनके लिए भी अपनी अतंद्रित

तपश्चर्या बंद कर दे तो हमारा नाश हो जाय। वैसे ही चंद्र अपनी शीत किरणें लौटा ले तो भी हमारा यही हाल होगा और अनुमानसे हम कह सकते हैं कि रात्रिके आकाशमें जो असंख्य तारागण हमें दिखाई देते हैं उन सबका इस जगतको बनाए रखनेमें स्थान है। इस प्रकार इस विश्वमें संपूर्ण प्राणियोंके साथ, संपूर्ण दृश्योंके साथ हमारा बहुत घना संबंध है और हम एक दूसरेके सहारे टिक रहे हैं। अतः हमें अपने आश्रयदाता आकाशमें विचरनेवाले दिव्य गणोंका थोड़ा परिचय कर ही लेना चाहिए।

इस परिचयका एक विशेष कारण भी है। हमारे यहां कहावत है—"दूरके ढोल सुहावने।" इसमें बहुत सचाई है। जो सूर्य हमसे इतनी दूर रहकर हमारा रक्षण करता है उसी सूर्यके पास जाकर हम बैठें तो उसी क्षण भस्म हो जायं। यही बात आकाशमें बसनेवाले दूसरे गणोंकी भी है। अपने पास रहनेवाली अनेक वस्तुओंके गुणदोष हम जानते हैं, इससे कभी-कभी हमें उनसे विरक्ति होती है, दोषोंके स्पर्शसे हम दूषित भी होते हैं, आकाशके देवगणके हम गुण ही जानते हैं, उनको निहारते हम थकते ही नहीं, उनका परिचय हमारे लिए हानिकर हो ही नहीं

सकता और इन देवोका ध्यान धरते हुए हमे अपनी कल्पना-शक्तिको नीतिपोषक विचारोसे जितनी दूर ले जाना हो उतनी दूर ले जा सकते है।

इसमे तो शंका ही नही कि आकाशके और अपने बीच हम जितना पर्दा खडा करते है उतने ही अशमे अपनी देह, मन और आत्माकी हानि पहुचाते है, हम स्वाभाविक रीतिसे रहते हो तो चौवीसो घटे आसमानके नीचे ही रहे। यह न हो सके तो जितने समय रह सकते हो उतने समय रहे। आकाशदर्शन अर्थात् तारा-दर्शन तो रातमे ही हो सकता है और सबसे अच्छा तो सोते समय हो सकता है। अत जो इस दर्शनका पूरा लाभ उठाना चाहे उसे तो सीधे आकाशके नीचे ही सोना चाहिए। आसपास ऊचे मकान या पेड हो तो वे इस दर्शनमे विघ्न डालते है।

बच्चोको और बडोको भी नाटक और उनमे दिखाये जानेवाले दृश्य बहुत रुचते है, पर जिस नाटककी योजना प्रकृतिने हमारे लिए आकाशमे की है उसको मनुष्यकृत एक भी नाटक नही पा सकता। फिर नाटक-शालामे आखे बिगडती है, फेफडोमे गंदी हवा जाती है, और आचरणके बिगडनेका भी बहुत डर रहता है। इस प्राकृतिक नाटकमें तो लाभ-ही-लाभ है। आकाशको

निहारनेसे आखोको शाति मिलती है। आकाशके दर्शनके लिए बाहर रहना ही होगा, इसलिए फेफडोको शुद्ध हवा मिलेगी। आकाशको निहारनेसे किसीका आचरण विगड़ता आजतक नही सुना गया। ज्यो-ज्यो इस ईश्वरी चमत्कारका ध्यान किया जाता है त्यो-त्यों आत्माका विकास ही होता है। जिसके मनमे रोज रातको सपनेमे, मलिन विचार आते हो वह बाहर सोकर आकाश-दर्शनमे लीन होनेका यत्न कर देखे। उसे तुरत निर्दोष निद्राका आनद मिलेगा। आकाशमे अवस्थित दिव्य गण मानो ईश्वरका मूक स्तवन कर रहे हों। हम जब इस महादर्शनमे तन्मय हो जायगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पडेगे। जिसके आखें हो वह इस नित्य नवीन नृत्यको देखे। जिसके कान हो वह इन अगणित गधर्वोका मूक गान सुने।

आइए, अब हम इनके बारेमे कुछ जाने या मुझे जो वहुत थोडा मिला है, उसमे सव साथियोको साझी वनाऊ। सच पूछिए तो पृथ्वी आदिके विषयमे थोडा सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद आकाश-दर्शन किया जाय तो ठीक कहा जायगा। हो सकता है कि मैं जो लिखनेवाला हू वह सब काकासाहबके सपर्कमे आए हुए आश्रमके बालक जानते हो। ऐसा हो

तो अच्छा ही है। मै आश्रमके छोटे-बडे, नये-पुराने सबके लिए लिख रहा हू। उसमे जिसको रस मिले उसके लिए तो यह विषय बिलकुल ही आसान हो जायगा।

प्रार्थनाके बाद तुरत आकाश-दर्शन करना अच्छा होगा। इसमे एक बार बीस मिनटसे अधिक समय देनेकी जरूरत नही। जो समझेगा वह इसे प्रार्थनाका अग ही मानेगा। बाहर सोनेवाला अकेले जितनी देर ध्यान करना हो करे। थोडी ही देरमे उसी ध्यानमे वह सो जायगा। रातमे नीद टूटे तो फिर थोडी देर दर्शन कर ले। आकाश प्रतिक्षण फिरता दिखाई देता है। इससे क्षण-क्षणमे उसके दर्शन बदला ही करते है।

आठ बजे आकाशकी ओर देखिए तो पश्चिममें एक भव्य आकृतिके दर्शन होगे।

यह आकृति पश्चिममे होगी। मै पूरबमें सिर

रखकर सामने देख रहा हू । इस तरह देखनेवाला इस आकृतिको भूल सकता ही नही । इन दिनो उजाला पाख है, इसलिए यह तारामडल और कई दूसरे भी कुछ धूमिल दिखाई देते है । फिर भी यह मंडल इतना तेजस्वी है कि मुझ-जैसे नौसिखियेको भी उसे ढूढ लेनेमे कठिनाई नही होती । इसके विषयमे हमारे यहा और पश्चिममे लोगोका क्या ख्याल है, यह पीछे बताऊगा । इस वक्त तो इतना ही कहूगा कि इस मडलके स्थानका वर्णन वेदमे देखकर लोकमान्य तिलक महाराज वेदके कालकी खोज कर सके थे । आश्रमके पुस्तक-सग्रहमे स्वर्गवासी दीक्षितजीकी पुस्तक है । उसमे तो बहुत बाते बताई गई है । मेरा काम तो रस उत्पन्न कर देनामात्र है, पीछे तो आश्रमवासियोसे मै अधिक सीख सकूगा । मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वरके साथ सबध जोड़नेके एक साधन हो गए है । आश्रमवासियोंके लिए भी हो ।

"जैसे (चरखेसे) सूत निकलता है वैसे तू रह और जैसे बने वैसे हरिको प्राप्त कर ।"[1]

---

[1] गुजराती सन्तकवि अखा भगत (१६१५-१६७४ ई०)की एक पंक्तिका भाव ।-अनु०

: ४ :

आकाश-दर्शन

२

यरवदा-मंदिर
१८-४-३२

पिछली बार तारामडलका जो चित्र भेजा है उसके विषयमे अनेक कल्पनाए है। इस मडलके चित्रोमेसे एक भी सपूर्ण नही होता। जितने तारे चित्रमे दिखाई देते है उनसे कही अधिक उसमें होते है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि हर आदमी अपने-अपने लिए चित्र बनाए और जितने तारे खाली आखसे दिखाई दे उनके चिह्न बना ले। इससे तारोको पहचाननेकी शक्ति तुरंत बहुत बढ जायगी और नकशोमे जो तस्वीरे आती है उनकी बनिस्बत अपने हाथों अपने लिए खीचा हुआ चित्र बढिया होगा, क्योकि अलग-अलग जगहोसे देखनेमे थोडा-थोडा फर्क तो पडता ही है। हर आदमी नियत स्थानसे नियत समयपर निरीक्षण करे तो ज्यादा अच्छा है। यह सूचना नकशेके बारेमे और आरभ करनेवालेके लिए है। आप एक बार अच्छी तरह नक्षत्रोकी पहचान कर ले

तो फिर कही भी हो अपने इन दिव्य मित्रो या दिव्य गणोको तुरत पहचान लेगे।

मद्रासके 'हिंदू' दैनिकके साथ एक साप्ताहिक निकलता है, बम्बईके 'टाइम्स'के साथ भी निकलता है। दोनोमे हर महीने दिखाई देनेवाले तारक मंडलोके नकशे छपा करते है। 'हिंदू'मे हर महीनेके पहले हफ्तेमे और 'टाइम्स'मे दूसरे हफ्तेमे निकलता है। इनमेसे कोई नकशा हाथ आ जाय तो उसमे हमे बहुत कुछ मिल जायगा। 'कुमार' (गुजराती मासिक) का सौवा या शती अक निकलनेवाला है, उसमे भाई हीरालाल शाहने इस विषयपर लेख भेजा है। उनका अध्ययन गहरा मालूम होता है। यह लेख जिसे देखना हो वह देख जाय। मै तो इस लेखके बाद इस विषयपर अधिक न लिखूगा। मै आकाशदर्शन किस रीतिसे कर रहा हू इसको यहा थोडा अधिक स्पष्ट करूगा। इससे आगे जाऊं तो इस हफ्तेमे जो दूसरी चीजे लिखनेको है वे रह जायगी। प्रसगवश कुछ भेज दू तो वह अलग होगा, या फिर किसीके प्रश्नपर भेजू।

जिस नक्षत्रका चित्र मैने दिया है उसका नाम अपने यहां मृग या मृगशीर्ष है। उसीपरसे हमारे अगहन महीनेका नाम मार्गशीर्ष—मगसिर—पडा है।

हमारे महीनोके नाम उन नक्षत्रोके नामपरसे पडे है। मृग-नक्षत्रको पश्चिममे 'ओरायन' कहते है। यह शिकारी है। इसके पूरबमे दो सीधी रेखाओंमे बहुत तेजस्वी तारे है। उनके शिकारीके कुत्ते होनेकी कल्पना की गई है। जो पश्चिममे है वह बडा और जो उत्तरमे है वह छोटा कुत्ता है। पूरबकी ओर और दक्षिणमे शिकारीके चौथे कोनेके तारेके नीचे जो नक्षत्र दिखाई देता है वह खरगोश मान लिया गया है। कुत्ते उसकी ओर दौड़ते है। बीचमें जो तीन तारे है वे शिकारीके कमरबदके तीन रत्न है।

ऐसी आकृतिया भी खीची गई है। बडे कुत्तेको हमारे यहा लुब्धक और उपर्युक्त तीन तारोको मृगका पेट कहते है। उसके दक्षिणमे जो तारा है वह लुब्धकका छोडा हुआ बाण है। उत्तर की ओर चतुष्कोणके बाहरके तीन तारे मृगके सिर है। यह सारी कल्पना खासी मनोरजक है। उसकी उत्पत्तिके विषयमे बहुत लिखा गया है। उसमेसे बहुत ही थोडा मै पढ पाया हू।

आकाशमे ऐसी आकृति बिलकुल नही है। वह हमे जितनी नजदीक दिखाई देती है उतनी नजदीक भी नही है। ये तारे तारे नही, बल्कि सूर्यसे भी बडे सूर्य

है। करोडों मील दूर होनेके कारण वे आकाशमे बूंदकी तरह झलकते है। इन सूर्योके विषयमे हमारा ज्ञान बहुत थोडा है, पर अपढ-से-अपढके लिए भी ये तारागण मित्रके प्रयोजनकी पूर्त्ति करते है। क्षणभर उनकी ओर दृष्टि की कि तुरंत देखनेवाला चाहे तो अपने सारे दु:ख-दर्द भूल जाय और भगवानकी महिमा गाने लगे। तारोको वह ईश्वरके दूत मान सकता है, जो सारी रात हमारी रखवाली किया करते है और हमे आश्वासन देते है। यह तो सत्य सिद्ध हुआ है। तारे सूर्य है, बहुत दूर है, आदि बुद्धिके प्रयोग है। वे हमे ईश्वरकी ओर ले जानेमे जो सहायता देते है वह अवश्य हमारे लिए पूरा सत्य है। शास्त्रीय रीतिसे हम जलको अनेक रीतियोसे पहचानते है, पर उस ज्ञानका शायद कोई उपयोग नही करते। वह प्राण और शरीरको साफ-सुथरा रखनेकी चीज है, यह ज्ञान और उसका यह उपयोग हमारे लिए बडे ही कामके है और हमारे लिए यह उपयोग सत्य है। फिर वस्तुत वह कोई दूसरा ही पदार्थ हो और उसका इससे अधिक उपयोग हो सकता हो तो अच्छा ही है। यही बात तारागणके विषयमे है। उनके उपयोग अनेक है। मैंने तो मुझे उनका जो प्रधान गुण जान पड़ा

उसका ही मनन और तदनुसार उपयोग सुझाया है । जान पडता है, कुछ ऐसा ही प्राचीन कालसे चलता आ रहा है । पीछे कालक्रमसे अनेक प्रकारके दूसरे वर्णन उसमें मिल गए और आख्यायिकाएं उत्पन्न हुई । इन सबको हम इस विषयमे रुचि बढानेके लिए अवश्य पढे पर जो मूल उपयोग मैंने सुझाया है उसको न भूले ।

मृगके उत्तरमे दो दूसरे मडल है, उनकी पहचान हम कर लें—
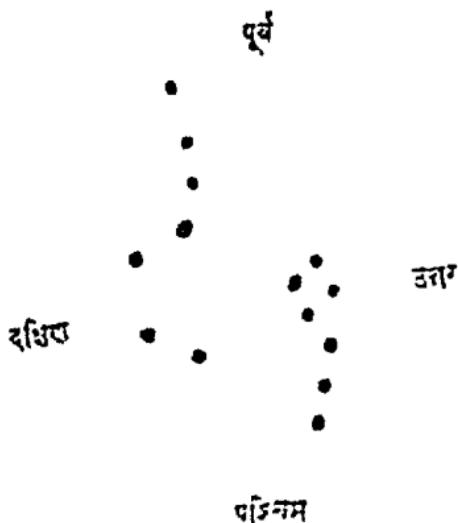
उनमे बडा मडल सप्तर्षि है । छोटेको ध्रुव मत्स्य कहते है । दोनोमे सात-सात तारे दिए है, पर

सप्तर्षिमे दूसरे बहुतसे है। वे 'टाइम्स' और 'हिंदू' के चित्रोंमे मौजूद है। ध्रुव मत्स्यमे दूसरे तारे नही दिखाई देते। इन दिनो उजाले पक्षमें तो शायद तीन ही दिखाई देंगे--दो चतुष्कोणके और एक सिरेका--जिसका नाम ध्रुव है। ध्रुव ऐसा तारा है जो लगभग अचल रहता है और इससे पिछले जमानेमे तो नाव-जहाज चलानेवालोको बडी मदद मिलती थी। ये दोनों मंडल ध्रुवकी प्रदक्षिणा ही करते हुए जान पडते है। इन दिनो इनकी गति देखनेका बडा आनद आता है। सारी रात इनका स्थान बदलता रहता है। इसको नोट करते जाय तो इनके मार्गका नकशा खासा कुडलाकार होगा। पश्चिममे इन्हे बडा रीछ और छोटा रीछ कहते है। एक पुस्तकमे तो इनके सुदर चित्र भी मैंने देखे है। बडे रीछको हलकी उपमा भी देते है। सप्तर्षि रातके घडियालका काम देते है। थोडा अभ्यास हो जानेके बाद सप्तर्षिकी गतिका समय अवश्य जाना जा सकता है।

पर अमूल्य होते हुए भी ये उपयोग और ये नाम मूल उपयोगके सामने मुझे तुच्छ-से लगते है। हमे चाहिए कि आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हो, तारे जैसे तेजस्वी है वैसे हम तेजस्वी हो। वे जैसे ईश्वरका

मूक स्तवन करते जान पड़ते है वैसे हम करे। वे जैसे अपना रास्ता एक क्षणके लिए भी नही छोड़ते वैसे हम भी अपना कर्त्तव्य न छोड़े।

: ५ :

गोशवारेकी आवश्यकता

यरवडा-मंदिर
२५-४-३२

आश्रमका इतिहास लिखते समय मनमे अनेक विचार आते है, अपनी अनेक त्रुटियोंकी ओर ध्यान जाता है। उससे मुझे ऐसा लगता है कि हमे समय-समयपर अपना गोशवारा तैयार करना चाहिए। व्यापारी अपने व्यापारका हर रोज गोशवारा—हिसाबका खुलासा—तैयार करता है, हर महीने करता है, हर छठे महीने करता है और बड़ा गोशवारा हर साल बनाता है। हमारा व्यापार आध्यात्मिक माना जायगा इसलिए आध्यात्मिक गोशवारा बनाना उचित है। हरएकको अपना-अपना तैयार करना चाहिए और समाजको सारी संस्थाका। ऐसा न करें तो गोशवारा न बनानेवाले व्यापारीकी तरह हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकलेगा।

अपने व्रतो और कामो, उद्योगोमे हम आगे बढ रहे है या पीछे छूट रहे है यह हम न जाने तो हम यंत्रकी तरह जड बन जायगे और अतमे यंत्रसे कम काम करेंगे, यानी अपनी हानि करेंगे।

यह गोशवारा हम किस रीतिसे तैयार करे? इसका जवाब मै कुछ प्रश्न लिखकर दे सकता हूं:

१ हम असत्य विचारते, बोलते या आचरण करते है? हम यानी हरएक।

२ ऐसा है तो वैसा करनेवाला कौन है? कहा-कहा असत्यका आचरण हुआ? उसके लिए उसने क्या किया? आश्रमने क्या किया?

३ आश्रमके इतने बरसके जीवनमे हम इस विषयमे आगे बढे कि पीछे हटे?

इस प्रकार सब व्रतोके विषयमे विचार करके जहा-जहा खोट-खामी दिखाई दे वहां-वहा उपाय ढूढे और करें।

कार्यो, उद्योगोके विषयमे भी यही कर्त्तव्य है। उनके विषयमे तो दूना विचार करना है। आर्थिक दृष्टिसे जमा-खर्च बराबर आता है? हम मानते है कि भौतिक उद्योगमे अगर दोनो मद बराबर आवे तो यह सभव है कि वह धार्मिक रीतिसे चलाया

गया हो अगर घाटा आवे या नफा रहे तो अवश्य कही नीति भग हुआ है। दूसरी दृष्टि यह है कि उस उद्योगके चलानेमें धर्मका ही विचार प्रधानत रखा गया है ? आश्रममे यह बात आवश्यक है, क्योंकि उसके सारे उद्योग धर्मके अर्थात् सत्यके अधीन है।

इन दोनो—व्रतो और उद्योगो—के विषयमे यह विचार मनमे आए विना नही रहते :

१ आश्रममे ही एक दूसरेके बीच सूक्ष्म चोरियां क्यो होती है ?

२. ऐसा वक्त कव और कैसे आयगा जव हममें एक-दूसरेका अविश्वास रहे ही नही ?

३. आश्रममे अव भी बाहरसे चोर क्यो आते है ?

४. हमारा व्यक्तिगत परिग्रह क्यो वढ रहा है ?

५ हमने आसपासके गावोके साथ क्यो सवध नही जोड़ा ? वह किस तरह जोड़ा जा सकता है ?

६. आश्रममें अव भी बीमारी क्यो रहा करती है ?

७ आश्रमके मजदूरवर्गके लिए हमने क्या किया ? वे क्यो आश्रमवासी नही बने ? या मजदूर ही आश्रममे क्यो हों ? आश्रममें मालिक और मजदूर ये विभाग ही न हो ?

ऐसे सवाल अभी और बहुतसे सोच सकता हू, पर

मेरे विचार बता देनेके लिए इतने काफी है। मैं चाहता हू कि छोटे-बडे सभी विचार करने लग जाय। रोजनामचा रखनेके मेरे आग्रहमें यह हेतु तो था ही।

: ६ :

सप्ताहका सार

यरवडा-मंदिर
२-५-३२

अप्रेल मासके शुद्धिसप्ताहपर भाई भगवानजीका पत्र आया है। उसमें कपासकी खराबीकी ओर मेरा ध्यान खीचा गया है। उनको शक है कि कुछ लोगोंने जान-बूझकर तार[1] बढाकर लिखे हैं। खराबी वह दो तरहकी बताते है—एक तो टूटा हुआ सूत जितना चाहिए उससे अधिक है, दूसरे उतावलीमें कातनेसे सूतके नम्बर बहुत कम हैं।

किसीने जान-बूझकर गलत तार लिखे हों तो इसको मै भारी दोष मानता हू। आश्रमके नामको इससे धब्बा लगता है। गलत लिखनेवालेका यज्ञ ईश्वरकी बहीमें तो लिखा ही नही जाता। हमारी

---

[1] अटेरनपर लपेटे हुए ४८ इंच सूतकी नाप

वहीमे जो तार या गज लिखे गए हो उनकी क़ीमत तो कुछ भी नही। कीमत तो जो हो वही सच्ची है, लिखनेसे उसमे घट-वढ नही होती और सूतकी कीमत तो कुछ आने ही होती है। असली कीमत तो कातनेके पीछे रहनेवाले शुद्ध उद्देश्यकी ही है। यह कीमत हम आक सकते ही नही। यह तो दैवी वहीमे ही हो सकती है, क्योकि मनुष्यके हेतुको कौन समझ सकता है? फिर भी हमारे पास एक माप है। अगर अतमे ऐसे यज्ञका सोचा हुआ फल न हो तो जानना चाहिए कि हममें कही-न-कही मलिनता है। इस दृष्टिसे हरएक अपने-अपने कामका विचार कर ले और असत्य कहा हो तो नम्रतापूर्वक इसे कबूलकर शुद्ध हो जाय। आश्रममे हमसे किसीकी छिपी निगरानी नही हो सकती। वहुत-सा काम विश्वासपर ही चलता है। आश्रम दूसरी रीतिसे चल भी नही सकता। इसलिए सबको अपने धर्मका बुद्धिपूर्वक पालन करना है। गलत तारके साथ-साथ दूसरे दोष भी सब विचार ले। कातनेमे आलस किया था? बेगार टाली थी? वक्त चुराया था? टूटा हुआ सूत फेंक दिया था? यज्ञकी शर्त यह है कि याज्ञिक उसमे तन्मय हो जाय, कार्यमे अपनी सारी होशियारी खर्च करदे।

कोई यह न सोचे कि पूरे बरस चाहे जैसे व्यवहार-कर शुद्धि-सप्ताहमें ऊपरके नियमका पालन कर लेंगे। इतना याद रखना चाहिए कि आश्रम-जीवन ही यज्ञ-रूप होना चाहिए। उसमें कातना महायज्ञ है। सप्ताहमें इतना ही अंतर है कि उस वक्त हम कातनेमें अधिक समय दिया करते हैं।

आगेके लिए मैं ये नियम सुझाता हूं:

१. बीस नंबरसे नीचेका सूत काता जाय तो वह यज्ञमें न गिना जाय।

२. सूतकी खराबी नियत मापसे अधिक हो तो काता हुआ यज्ञ न माना जाय।

३. कस—मजबूती नियत सीमासे नीचे आए तो भी यज्ञ न गिना जाय।

यज्ञकार्य हो कि दूसरा कोई, संख्या या वजनसे सफाई, सचाईकी कीमत ज्यादा होगी। पचास अपंग बैल हमारे सिरपर बोझ होंगे, एक मजबूत बैल हमारा पूरा काम कर देगा। पचास भौथरी छुरियां शाक नहीं काट सकतीं। एक धारदार छुरी पूरा काम कर देगी। इसलिए हमें अपना ध्यान हर कामकी पूर्णताकी ओर देनेकी आदत डालनी चाहिए। आनेवाले सप्ताहमें हम इस चीजपर ही ध्यान दें।

मैं देखता हूं कि कातनेमे कुछ लोगोंका मन ऊबता है। दूसरे काम वे ज्यादा पसंद करते है। इसमें एक तो स्वाभाविक त्रुटि है। आदमीको जो काम रोज करना पडता है उससे वह ऊबता है और मनको फुसलाता है कि कोई दूसरा काम होता तो मैं न ऊबता। पर वह दूसरा काम भी अगर रोजका हो जाता है तो वह तीसरा मागता है। फिर कातनेवालेका ध्यान जाने-वेजाने कताईसे मिलनेवाली थोड़ी मजदूरीकी ओर जाता है। आश्रमकी दृष्टिसे यह दोष है। कातनेकी मजदूरी कम-से-कम रखी जाती है। कारण यह कि इस वक्त तो यही एक धंधा है जिसे करोड़ो कर सके और उनसे कुछ कमा भी ले। अत इस कामको व्यापक करनेके लिए हम सब यज्ञरूपमे कातते है। यज्ञमें कल्पना यह है कि हम ईश्वरार्पण वुद्धिसे काम करते है और फल देना भगवानके हाथ है। इस रहस्यको समझकर कातनेका यज्ञ सवको नित्य उसमें तन्मय होकर करना उचित है।

: ७ :

सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता

यरवदा-मंदिर
९-५-३२

धीरू मगन चरखा लाया। उसपर आज मुझे इतना आरंभिक काबू मिल गया कि मुझे संतोष हो। अतः मुझे विनोद सूझा। वल्लभभाईकी तीखी आंखोंने तो उसके ऊपर लगा हुआ मकडीका एक जाला देख लिया और उन्होंने तुरत उसका मजाक किया। मणिबहनके अति सुघडपनका मूल मुझे यही मिला। जिस लिफाफेमे मैं आश्रमकी डाक बंद किया करता हूं वह सरदारकी हुनरमन्दीका एक नमूना है। जिसने इस लिफाफेको न देखा हो वह देख ले। उसमे सुघड़पनके साथ भारी किफायतशारी है। यह बता देना चाहिए कि यहांकी डाकके लिए बहुत लंबे लिफाफेकी जरूरत नही होती, इसलिए एकके दो हो जाते है। जो बादामी कागज पुड़ियो आदिमे आता है वह रख लिया जाता है। उससे लिफाफोके लिए कागज निकल आता है।

यह तो हुई प्रस्तावना। वल्लभभाईकी आलोचनापर मैंने ध्यान दिया, पर मैं इस चरखेसे काम लेनेके

लिए अधीर हो रहा था। डाक्टर कहा ही करते थे कि बाए हाथसे चरखेका चक्र भी न घुमाओ। उसे पावसे चलाऊ तो चरखेका एक दिन भी शायद खराब न हो। अत उसपर जल्दी काबू पा लेनेकी धुनमे मैने जालेकी तह चढी रहने दी । आज दाहिने हाथसे काम कर सकनेकी हिम्मत हुई तो चरखेकी खराबीके ऊपर निगाह गई। एकके बजाय सात जगह जाला देखा। धूल तो जमी ही थी। पीतलके मोढ़ियेपर तेल और धूलका मरहम-जैसा कीट जम रहा था। पिढईपर भी खासा मैल था। यह अक्षन्तव्य माना जाना चाहिए। चरखा दरिद्रनारायणका चक्र है, उनकी पूजाकी यह मुख्य सामग्री है। उसपर मैल चढ़ाकर हम दरिद्रनारायणका अनादर करते है। सामान्य रीतिसे मदिर, मस्जिद, गिरजा आदि स्थानोकी सफाई रखी जाती है। हम तो मानते है कि हरएक स्थान मंदिर है। एक भी कोना नही है जहा ईश्वर न हो। इसलिए हमारे मतसे तो शयनगृह, भोजनगृह, पुस्तकालय, पाखाना सभी मंदिर है और मदिरकी तरह साफ-सुथरे रहने चाहिए। तब फिर चरखेका तो कहना ही क्या ! चरखेकी शक्तिको हम सचमुच ही मानते हो तो बच्चेसे लगाकर बूढेतक कोई भी उसे साफ रखे बिना न रहे।

बिल्लीकी सफाईके बारेमे तो मै लिख ही चुका हूं। इस वक्त उसका अधिक अवलोकन हुआ है। कोई डेढ महीने पहले उसने दो बच्चे जने। उनकी रहन-सहन अलौकिक लगती है। तीनो शायद ही कभी अलग देखनेमे आते हो। जब बच्चे चाहते है तब मां दूध पिलाती है। दोनो साथ-साथ सटकर दौडते है, यह दृश्य भव्य होता है। माको इसमे कोई शर्म नही लगती। बिल्ली सारे काम सबके सामने या सब जगह नही करती। बच्चे चलने-फिरने और खेलनेवाले हुए कि माने तुरत उन्हे शौचका नियम सिखाया। खुद एकातमे जाकर नरम जमीन पजोसे खोदकर गढा किया और बच्चोको उसके ऊपर बैठाया, फिर धूलसे मैलेको ठीक तौरसे ढककर जमीन जैसी थी वैसी कर दी। अब बच्चे रोज इसी रीतिसे निवटते है। वे भाई-बहन है। चार दिन पहले उनमेसे एक जमीन खोदने लगा, पर वह कठिन थी। दूसरा मददको पहुचा और दोनोने मिलकर जैसा चाहिए था वैसा गढा खोद लिया। शौच हो लेनेके बाद जमीन ढाककर चलते बने। ऐसे प्राणी—छोटे-बडे—जो कर सकते है वह हम सहज ही क्यो न करे ?

शीर्षकमे चार शब्द एक ही भावको प्रकट करनेके

लिए व्यवहार किये गए है। हमे आत्माका बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनोकी होनी चाहिए। पर अदरकी सफाई तो सचाई है। सचाई ही सबसे बडी पवित्रता, इसलिए, स्वच्छता है। हम बाहरसे साफ-सुथरे हो और अंतर मैला हो तो या तो यह आडबरमात्र है, या दभ है, विषयभोगकी निशानी है। इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषोकी स्वच्छता अतरकी पवित्रताका लक्षणरूप ही हो तो कामकी है।

हमारा शरीर हमारा महामदिर है। हम उसमे बाहरसे कोई मैल न भरे। अदर मनको कुविचारोसे मलिन न करे। इस शौचको साधनेवाला अपने हरएक काममे स्वच्छता प्रकट करेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

: ८ :

अद्‌भुत त्याग

यरवदा-मदिर
१५–५–३२

अक्सर सामान्य पाठ्यपुस्तकोसे हमे अचूक उपदेश मिल जाते है। इन दिनो मै उर्दूकी रीडरे पढ़

रहा हूं। उनमे कोई-कोई पाठ बहुत सुदर दिखाई देते है। ऐसे एक पाठका असर मुझपर तो भरपूर हुआ है। दूसरोपर भी वैसा ही हो सकता है। अत उसका सार यहा दिए देता हू।

'पैगवर साहवके देहातके वाद कुछ ही वरसोमे अरवो और रूमियो (रोमनों) के बीच महासग्राम हुआ। उसमे दोनो पक्षके हजारो योद्धा खेत रहे, वहुतसे जख्मी भी हुए। शाम होनेपर आमतौरसे लड़ाई भी.वंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई वद हुई तव अरव-सेनामे एक अरब अपने चाचाके वेटेको ढूढने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाए और जिदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानीके लिए तडप रहा हो, यह सोचकर इस भाईने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तडपते घायल सिपाहियोके बीच वह लालटेन लिए देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानीकी रट लग रही थी। जख्मोसे खून वह रहा था। उसके बचनेकी आशा थोड़ी ही थी। भाईने पानीका लोटा उसके पास रख दिया। इतनेमे किसी दूसरे घायलकी 'पानी-पानी'की पुकार सुनाई दी। अत. उस दयालु सिपाहीने अपने भाईसे

कहा, "पहले उस घायलको पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओरसे आवाज आ रही थी उस ओर यह भाई तेजीसे कदम बढाकर पहुचा।

यह जख्मी बहुत बडा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीनेको ही था कि इतनेमे तीसरी दिशासे पानीकी पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाहीके बराबर ही परोपकारी था। अत: बड़ी कठिनाईसे कुछ बोलकर और कुछ इशारेसे समझाया कि पहले जहांसे पुकार आई है वहां जाकर पानी पिला आओ। नि श्वास छोड़ते हुए यह भाई वायुवेगसे दौडकर जहासे आर्त्तनाद आ रहा था वहां पहुचा। इतनेमे इस घायल सिपाहीने आखिरी सास ले ली और आंखे मूद ली। उसे पानी न मिला! अत यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहा पड़ा था वहां झटपट पहुचा, पर देखता है तो उसकी आखे भी तब-तक मुद चुकी थी। दुखभरे हृदयसे खुदाकी बदगी करता हुआ वह अपने भाईके पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बद पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यो तीन घायलोमे किसीने भी पानी न पाया; पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गए। इतिहासके पन्नोमे ऐसे निर्मल त्यागके दृष्टात तो

बहुतेरे मिलते है। उनका वर्णन जोरदार कलमसे किया गया हो तो उसे पढकर हम दो बूद आसू भी गिरा देते है, पर ऊपर जो अद्‌भुत दृष्टात लिखा गया है उसके देनेका हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषोके जैसा त्याग हममे भी आए और जब हमारी परीक्षाका समय आए तब दूसरेको पानी पिलाकर पिये, दूसरेको जिलाकर जिये और दूसरेको जिलानेमे खुद मरना पडे तो हँसते चेहरेसे कूच कर जाय।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानीकी परीक्षासे कठिनतर परीक्षा एकमात्र हवाकी है। हवाके बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवासे घिरा हुआ जान पडता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब आलमारी-जैसी कोठरीके अदर बहुतसे आदमी ठूस दिये गए हो, एक ही सूराखसे थोडी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जाय। हम भगवानसे प्रार्थना करें कि ऐसा समय आए तो हम हवाको जाने दे।

हवासे दूसरे नबरपर पानीकी आवश्यकता—प्यास है। पानीके प्यालेके लिए मनुष्योके एक दूसरेसे लड़ने—झगडनेकी बात सुननेमे आई है। हम

यह इच्छा करे कि ऐसे मौकेपर उक्त बहादुर अरबों-का त्याग हममे आए, पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एककी ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियो, पडोसियोको आगे करके खुद पीछे रहते है ? न रहते हो तो हम नापाक हुए, अहिंसाका पहला पाठ हमे नही आता।

: ६ :

बिल्ली-शिक्षिका

यरवदा-मंदिर

२२-५-३२

यहाकी बिल्लीकी सफाई-पसदीके बारेमे तो मैं लिख चुका हू। उसको और उसके बच्चोको देखकर मुझे ऐसा दिखाई देता है कि बिल्ली आदर्श शिक्षिका है। बिल्लीके बच्चोको जो कुछ सीखना चाहिए वह यह माता बिना किसी उपद्रवके और बिना मुंहसे एक शब्द बोले सिखा देती है। रीति निहायत आसान है। वह जो सिखाना चाहती है उसे खुद उनके देखते

कर दिखाती है। बच्चे तुरत उसे करने लग जाते है। इस रीतिसे वे दौड़ना, पेडपर चढना, सम्हालकर उतरना, शिकार करना, अपने शरीरको चाटकर साफ कर लेना सीख गए। मा जितना जानती है उतना बच्चे देखते-देखते सीख गए है।

मां बच्चोंको अक्सर बेकार भटकनेके लिए छोडती नही। उसका प्रेम मनुष्यके प्रेम-जैसा ही दिखाई देता है। वह बच्चोको बगलमे लेकर सोती है। जब वे दूध पीना चाहते है तब खुद लेट जाती है और उन्हें दूध पीने देती है। कोई शिकार किया हो तो उसे बच्चोके पास ले आती है। वल्लभभाई रोज इनको दूध पिलाते है। छोटी-सी रकाबीमे तीनो दूध पीते है। अक्सर मां देखा करती है, पर खुद उसमे हिस्सा नही बटाती। वह बच्चोके साथ बच्चोकी तरह क्रीडा करती है, कुश्ती लडती है।

इससे मैने यह सार निकाला कि हम बच्चोको शिक्षा देना चाहते है तो जो बात उनसे कराना चाहते हो वह खुद करनी चाहिए। बच्चोमे अनुकरणकी भारी शक्ति होती है। मुहसे कहा हुआ वे कम समझेगे। हम उन्हे सत्य सिखाना चाहते हों तो खुद

हमें बहुत सावधानीसे सत्यका पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना हो तो हमें परिग्रह त्याग देना होगा। जो बात नीतिके विषयमें है वही शारीरिक कार्योंके विषयमें भी है।

इस रीतिसे विचार करते हुए हम तुरत देख सकते है कि आज जिस रीतिसे शिक्षा दी जाती है उसमे पैसे और समयके व्ययके परिमाणमें फल नगण्य मिलता है। फिर हम यह भी देख सकते है कि बडी उम्रको पहुचे हुए सभी आदमी शिक्षक के स्थान पर है। इस स्थानके साथ न्याय नही होता। इसका उचित आदर नही किया जाता। इससे शिक्षाने वक्ररूप धारण कर लिया है।

बिल्ली आदि पशुओंको बुद्धि नही है या मनुष्यकी जैसी बुद्धि नही है। वे जो करते है उससे तो हमें बहुत आगे जाना चाहिए, पर इसके शक्य होनेके पहले भावी संतानकी नीतिके रक्षक होनेके नाते, हमे खुद उसका पालन करना होगा। जिस बातको हम चाहते हों कि आनेवाली सताने सीखे उसे खुद भी यथाशक्ति सीखना चाहिए।

आश्रममें जो लोग शिक्षक और शिक्षिका है वे इस दृष्टिसे विचार करने लगे और जहा अमल

करना उचित हो वही करने लगे, इसी उद्देश्यसे यह लेख लिखा है।

: १० :

मृत्युका बोध

यरवडा-मंदिर
३०-५-३२

आश्रममे अबतक नीचे लिखी मौते होनेकी बात मुझे याद है · फकीरी, ब्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसंत, इमाम साहब, गंगादेवी (इन सबकी तारीखे लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरीकी मौत तो ऐसी हुई जो आश्रमको शोभा देनेवाली नही कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरीपर आश्रमके सस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपनकी बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगलमें सारी रात मै ही बैठा रहा। सवेरे मुझे गुरुकुल जानेके लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथीपर सुलाकर, पत्थरका कलेजा करके

मैंने स्टेशनका रास्ता लिया । फकीरीके बापने फकीरी और उसके तीन भाइयोको यह समझकर मुझे सौपा था कि मैं फकीरी और दूसरोके बीच भेद न करूगा । फकीरी गया तो उसके तीन भाइयोको भी मैं खो बैठा ।

ब्रजलाल बडी उम्र मे, शुद्ध सेवाभावसे आश्रममें आए थे और सेवा करते हुए ही मृत्युका आलिंगन करके अमर हो गए और आश्रमके लिए शोभारूप हुए । एक लडकेका घडा कुएसे निकालते हुए डोरमें फँसकर फिसल गए और प्राण तजे ।

गीता गीताका पाठ शातिसे सुनती हुई चली गई । मेघजी नटखट लडका माना जाता था; पर बीमारीमें उसने अद्भुत शाति रखी । बच्चे अक्सर बीमारीमें बहुत हैरान होते है और पास रहनेवालोको हैरान करते है । मेघजीको लगभग आदर्श रोगी कह सकते है । वसतने बिलकुल सेवा ली ही नही । प्राणघातक चेचकने एक या दो दिनमें ही जान ले ली । वसंतकी मृत्यु पडितजी और लक्ष्मीबहनकी कठिन परीक्षा थी, उसमे वे पास हुए ।

मगनलालके विषयमे क्या कहू ? सच पूछिए तो यह गिनती आश्रममें हुई मौतोकी है, इसलिए

मगनलालका नाम यहा न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोड़ा जा सकता है ? उन्होने आश्रमके लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्निमे तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्निमे तपे और कसौटीपर सौ फीसदी खरे उतरकर दुनियासे कूच कर गए। आश्रममे जो कोई भी है वह मगनलालकी सेवाकी गवाही देता है।

इमाम साहबका अकेला ही मुसलमान-कुटुब अनन्य भक्तिसे आश्रममे बसा। उन्होने मृत्युसे हमारे और मुसलमानोंके बीच न टूटनेवाली गाठ बांध दी है। इमाम साहब अपने आपको इसलामका प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूपमे आश्रममे आए। (यहा अमीनाके दो बच्चे याद आते है। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारेमे कोई कहने लायक बात नही। उनकी मृत्यु हमे संयमकी आवश्यकताका पाठ अवश्य पढ़ाती है।)

गगादेवीका चेहरा अब भी मेरी आखोके सामने फिरा करता है, उनकी बोलीकी भनक मेरे कानोमे पड़ती है। उनके स्मरणोको याद करते अब भी मै थका नही। उनके जीवनसे हम सबको और बहनोको खास तौरसे बहुत सबक सीखने है। वह लगभग

निरक्षर होनें पर भी ज्ञानी थी। हवा, पानी बदलनेके लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छासे जानेसे अन्ततक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थी। जो बच्चे उन्हे मिले उनकी सम्हाल उन्होने अपने बच्चे मानकर की। उन्होने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नही है। उनको जीनेका उल्लास न था, मरनेका भय न था—उन्होंने हँसते हुए मृत्युको गले लगाया। उन्होने मरनेकी कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीनेकी कला है, वैसे ही मरनेकी भी कला है।

इन सभी मृत्युओका स्मरण अपनी जागृतिके लिए कर गया हूं। पृथ्वी इस विश्व-मंडलमे कण-समान है। उस कणके ऊपर हम देहरूपमें तुच्छ कण है। हम एक बिलमें रहनेवाली चीटियोंको गिननेमें असमर्थ है। चीटीसे छोटे जंतुओंको तो हम देख भी नही सकते। विराट पुरुषके सामने तो हम अदृश्य जतुसे भी अधिक छोटे है। इससे इस देहको जो क्षण-भंगुर कहा है वह अक्षरश सत्य है। उसका मोह क्या? उसके लिए एक भी प्राणीको हम क्यो दु:ख दे? कांचसे भी कमजोर—जरा-सी चोटसे टूट जानेवाली—

देहको बनाए रखनेके लिए इतना उपद्रव क्यों मचाए ? मौतके मानी है इस देहसे जीवका उड़ जाना। इस मौतका डर किस लिए ? उसका क्षण दूर रखनेके लिए यह महा-प्रपच क्यो ? इन बातोपर फिर-फिर विचारकर छोटे-बड़े सब दिलसे मौतका डर निकाल दे और देहमे रहकर, जबतक वह रहे तबतक, सेवाके कार्यमे उसे घिस डाले। ऐसी तैयारी करनेकी शक्ति हममें आए, इसके लिए नित्य गीताके दूसरे अध्यायके अतिम उन्नीस श्लोक हमे रटने चाहिए। उनकी रटन दिलसे हो तो जो चाहिए वह उसमे मौजूद है।

पुनश्च—यह लेख लिखा जा चुकनेके बाद महादेवने फातिमाकाकी और बालजीकी माताजीके संस्मरण दिए हैं; पर मुझे जो सार खीचना था उसमे कोई फर्क नही पड़ता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हू। बाकीकी तीनो मौतोंके बारेमे जो कुछ मैंने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।

: ११ :

तितिक्षा और यज्ञके विषयमें

यरवदा-मंदिर
९-६-३२

कोढसे पीड़ित एक भाईने नीचे लिखे हुए उद्‌गार प्रकट किये हैं—

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियोंके लिए आसन, प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करनेके बाद प्राप्त किया हुआ अन्न इस रोगके लिए अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादिके पाठमें, भजन गानेमें, ध्यानमें और कम-से-कम ५०० गज सूत कातनेमें मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षाका अर्थ तो यह है—"सब दुखोंको मनमें बिना विरोध किये, बिना चिंता किये, बिना कलपे सहन करना।" यह सहन-शक्ति अपने आपमें उत्पन्न कर रहा हूं और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञकार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमीसे दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वरकृपासे खुले हुए हैं और इनसे आनंद प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढा रहा हूं। पर अक्सर मनमें यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ बिलकुल हो ही न सके तो? शास्त्र तो पुकार-पुकारकर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है, और जगतके लिए त्रास उपजानेवाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य

व्याधिसे इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकारका यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरोकी सेवापर ही टिक रहा हो, तो ऐसे समय क्या कर्त्तव्य है ? किसी-किसी शास्त्रमे यह भी पढा है कि जब आदमीको ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानीमें डूबकर या ऐसे ही किसी और उपायसे प्राणत्याग करे।"

यह एक सुदर पत्रका मेरी भाषामे किया हुआ खुलासा है। इस पत्रसे अपने लोगोके लिए तो मै इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाईने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपनेमे उत्पन्न करे और रोगसे पीडित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहे। सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बाते बहुत पुरानी है। आश्रममे तो पद-पदपर हम इन्हे सुनते है; पर जब किसी अनुभवीकी कलमसे यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमे खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़से पीड़ित जनोसे ऐसी भाषा और ऐसे अनुभवकी आशा हम नही रखते। आम तौरसे ऐसे लोग अगर लिखते है तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते है। यहां हमे एक निराली ही चीजका अनुभव हुआ है। इसीसे इस पत्रका सार मैंने आश्रमवासियोके लिए लिख दिया है। इसमे जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञका अर्थ हम परोपकारके लिए मन देकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते है; पर इससे यह मान लेना जरूरी नही है कि जो शरीरसे अशक्त है वह यज्ञहीन है। जो शरीरसे सर्वथा अशक्त है वह अपने मानसिक वलसे अनेक प्रकारकी सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थितिकी कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काविल न हो कि यज्ञ किया जा सके; वैसा मनोवल न हो फिर भी यज्ञकर्म करनेकी तीव्र इच्छा हो। देहके विषयमे उदासीनता आ गई हो; दूसरोकी सेवा लेनेसे दु ख होता हो, वीमारी प्राण-घातक है, इसका अपने आपको इतमीनान हो गया हो। मेरा खयाल है कि ऐसी हालतमें जिसमे ऐसी शक्ति हो उसको प्राणत्याग करनेका पूर्ण अधिकार है, धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवालेको आघात पहुचानेवाला वाक्य समझा जायगा। जीनेवालेके मुंहमे दूसरेके लिए प्राणत्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना संभव नही, जो मुझे उचित जान पडा उसे मर्यादापूर्वक लिख

डाला है। अगणित उपाय करके और असीम सेवा लेकर भी जीनेकी तृष्णा घट जाय और मृत्युका भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है, यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोगके समय प्राणत्यागको धर्म माने तो यह माननेके लिए कोई कारण नहीं कि वह गलत ही कर रहा है।

: १२ :

प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१९-६-३२

प्रार्थना आश्रमका एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीजको हमें ठीक तौरसे समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिए। भोजन करते समय आम-तौरसे हम किसीको सोता हुआ नहीं देखते। प्रार्थना भोजनसे करोड़ गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोए तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्यको भारी दुख होना चाहिए। खाना छूटे; पर प्रार्थना न छूटे।

खाना छोडना कितनी ही बार शरीरके लिए लाभ-दायक होता है। प्रार्थनाका छूट जाना कभी लाभ-दायक हो ही नही सकता।

पर जो आदमी प्रार्थनामे सोता हो, आलस्य करता हो, बाते करता हो, ध्यान न रखता हो, विचारको जहां-तहां भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड़ दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीरसे हाजिरी दी उसकी गिनती दभमे होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोप किया; प्रार्थना छोड़ी और समाजको ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रतका भग।

पर हमारे न चाहनेपर भी नींद आए, आलस्य लगे तो क्या करना होगा? ऐसी बात होती ही नही। अगर हम खाटसे उठकर सीधे प्रार्थनामें जायं तब तो वहां ऊंघेगे ही। प्रार्थनामे जानेके पहले जाग्रत हो जाने दातुन करने और ताजा रहनेका निश्चय करना चाहिए। प्रार्थनामे एक दूसरेसे सटकर न बैठना चाहिए। सोटेकी तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊची आवाजसे, नही तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए।

यह भी न आए तो रामनाम ले। इतनेपर भी शरीर काबूमें न रहे तो खड़ा हो जाय। छोटा हो या बडा, इसमें किसीको लजाना न चाहिए। शर्म मिटानेके लिए, बडोंको चाहिए कि खुद ऊंघते न हो तो भी, जब-तब खडे हो जाया करे।

प्रार्थनामे जो कुछ कहा जाय उसे तुरंत सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

: १२ :

अहिंसाका पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर
२५-६-३२

सर्पको मारे या नही ? स्त्रीके ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारीको मारे या नही ? खेतमे जीव मरते है यह जानते हुए भी हल चलाएं या नही ? अहिंसाका उपासक इन प्रश्नोको हल करनेमे न लगे। इन गुत्थियोको जब सुलझाना होगा तब वे अपने आप सुलझ जायंगी, इस भुलावेमें पडना अहिंसाको बिसर जानेके बराबर है।

अहिंसाके पालनका जिसको उत्साह हो वह अपने अंतरमें और अपने पडोसियोंको देखें। अगर उसके मनमें द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसाकी पहली सीढीपर भी नही चढा। अपने पड़ोसी, साथीके साथ वह अहिंसाका पालन न करता हो तो वह अहिंसासे हजारो कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथीका तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली? उसे कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली? अपने काममें चोरी करके साथीके ऊपर बोझ डाला? आज मेरा पडोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया, प्यासे बटोहियोंने मुझसे पानी मागा, मैंने न दिया। मेहमान आए उनका नमस्कारसे भी सत्कार न किया; मजदूरका तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना विचारे काम लादता रहा; बैलको पैना मारता रहा। रसोईमें भात कच्चा था इससे खीझा—ये सारी बाते भारी हिंसा है। इस तरह नित्यके व्यवहारमें हम स्वाभाविक रीतिसे अहिंसाका पालन न करें तो दूसरे विषयोंमें हम अहिंसाका पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातोंमें उसका पालन करते हो तो

उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी। अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षणके कार्यमे, प्रतिक्षणके विचारमें हो रही है। जो कौड़ीकी फिक्र करेगा उसकी कौड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौडीकी परवा नही की उसने कौडी भी खोई और कोडी तो उसकी थी ही नहीं।

: १४ :

सत्यका पालन कैसे हो ?

यरवडा-मंदिर
३-७-३२

जो बात अहिंसाकी है वही सत्यकी समझिए। गायको बचानेके लिए झूठ बोला जा सकता है या नही, इस उलझनमे पडकर अपनी नजरके नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्यकी साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानीमे बैठना सत्यको ढांकनेका रास्ता है। तत्काल जो समस्याए रोज हमारे सामने आकर खडी हो रही है उनमें हम सत्यका पालन करे तो कठिन अवसरोपर

क्या करना होगा इसका ज्ञान हमें अपने आप हो जायगा।

इस दृष्टिसे हममेंसे हरएकको केवल अपने आपको ही देखना है। अपने विचारसे मैं किसीको ठगता हू? अगर मैं 'व'को खराव मानता हूं और उसको वताता हू कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हू। वडा या भला कहलानेकी इच्छासे जो गुण मुझमे नही है उन्हे दिखानेकी कोशिश करता हू? वोलनेमे अतिशयोक्ति करता हूं? किये हुए दोप जिसको वता देने चाहिए उससे छिपाता हू? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवावमे वातको उड़ा देता हू? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हू? इनमेसे कुछ भी करते है तो हम असत्यका आचरण करते है, यों हरएकको रोज अपने आपसे हिसाव लेकर अपने आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलनेकी ही आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुहसे निकल ही न सके, वह भले ही अपने आपसे रोज हिसाब न मागे; पर जिसमे लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्यका आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीतिसे यही या इस तरहके जितने सूझे उतने सवालोका

जवाब रोज अपने आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने आपमे हुआ परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

: १५ :

विद्याभ्यास

यरवदा-मंदिर
१०-७-३२

आश्रमका इतिहास लिखते हुए शिक्षाके विषयमे जो विचार प्रधान रूपसे मेरे मनमें चल रहे है उनका निचोड़ दिये देता हूं। आश्रममे कितने लोगोंको वाचन शिक्षण—पढ़ाईकी तालीम—की कमी दिखाई देती है। मैं भी इस कमीको देख सकता हूं; पर शायद वह आश्रमके साथ जुडी ही रहेगी। उसके कारणकी चर्चा तत्काल न करूंगा।

यह कमी हमे इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यासका अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करनेकी रीति नही जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टिसे प्रचलित विद्याभ्यास और उसे

करने-करानेकी रीतिमे वहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्मा-को, अपने आपको, ईश्वरको, सत्यको पहचाने। इस पहचानके लिए किसीको साहित्यज्ञानकी आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्रकी, किसीको कलाकी; पर विद्यामात्रका उद्देश्य आत्मदर्शन होना चाहिए। आश्रममे यह है। उसकी दृष्टिसे हम अनेक उद्योग चला रहे है। ये सारे उद्योग मेरे अर्थमें शुद्ध विद्याभ्यास है। आत्म-दर्शनके उद्देश्यके बिना भी यही धधे चल सकते है। इस रीतिसे चले तो वे आजीविकाके या दूसरे साधन हो सकते है, पर विद्याभ्यास न होगे। विद्याभ्यासके पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है। जहा समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे-से-छोटा काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझनेका प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर कामका होता है। खाना पकानेका, सफाईका, वढ़ईके कामका, कताईका, जो हरएक उद्योग विद्यार्थीकी दृष्टिसे चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरएक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह

जानेगा कि आश्रम एक महान् पाठशाला है, जिसमे शिक्षाके लिए कोई खास समय ही हो सो बात नही है, बल्कि सारा समय शिक्षण काल है। हर आदमी, जो आत्म-दर्शन—सत्य-दर्शन—के भावसे आश्रममे बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीजमे वह निपुण है उसके विषयमे वह शिक्षक है, जो उसको सीखना है, उसके विषयमे विद्यार्थी हैं। जिस विषयका हमे अपने पड़ोसीकी अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसीको बिना किसी संकोचके देते ही रहे और जिसमे पड़ोसीको अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोचके लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमे शिक्षकोका टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमोंके पालनमे बढते जायं त्यों-त्यो हमारी विद्या—सत्य-दर्शनकी शक्ति—बढती ही जायगी।

तब अक्षरज्ञानका क्या हो? यह प्रश्न अब रहता ही नही। जो बात अन्य कार्योंके विषयमें है वही अक्षरज्ञानके विषयमे है। ऊपरके विवेचनसे एक वहमकी अर्थात् शिक्षाशाला रूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षकके—भ्रमकी जड कट जाती है। हमे

अक्षरज्ञानकी जिज्ञासा हो तो हमे जानना चाहिए कि वह हमे अपने ही यत्नसे प्राप्त करना है। आश्रममे उसके लिए अवकाश है ही। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उसे ठीक तौरसे समझा सका होऊं तो अक्षर-ज्ञानकी समस्या हल हो जाती है। जिसके पास वह है वह दूसरोको यथासमय दिये जायं और दूसरे लेते जायं।

: १६ :

व्यक्तिगत प्रार्थना

यरवदा-मंदिर
१७-७-३२

व्यक्तिगत प्रार्थनाके विषयमे मै कुछ लिख तो चुका हू, पर उसके महत्वके विषयमे फिर कुछ लिखनेकी आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पडता है कि सामाजिक प्रार्थनामे जो रस पैदा नही होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थनाकी आवश्यकताका अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थनाकी व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थनामेंसे ही हुई है। व्यक्तिको प्रार्थनाकी भूख न हो तो समाजको कहासे हो सकती है ? सामाजिक

प्रार्थनाका उपयोग भी व्यक्तिके लाभके लिए है। व्यक्तिके आत्म-दर्शनमे—आत्मशुद्धिमे—सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थनाका मूल्य सबको समझ लेना चाहिए, बच्चा ज्यो ही समझने लगे, माताको चाहिए कि तुरत उसे प्रार्थना सिखा ही दे। सब धर्मोमे यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थनाके दो समय तो पक्के है. सवेरे उठते ही अन्तर्यामीको याद करना और रातमे आख मूदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जाग्रत स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रियाके संपादनमे अन्तर्यामीको याद करेगा और साक्षी रखेगा। ऐसा करनेवालेसे बुरा काम तो होगा ही नही और अतमे उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि हर विचारका ईश्वरको साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा, यह शून्यवत हो जानेकी स्थिति है, यो जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है उसके हृदयमे निरंतर राम बसते है।

ऐसी प्रार्थनाके लिए खास मन्त्र या भजनकी जरूरत नही होती। यद्यपि प्रत्येक क्रियाके आरभ और अतके लिए मंत्र देखनेमे आते है, पर उनकी आवश्यकता नही है। चाहे जिस नामसे, चाहे जिस रीतिसे, चाहे जिस स्थितिमे भगवानको याद करना

है। ऐसा करनेकी आदत बहुत थोडोको ही होती है। बहुतोंको हो तो दुनियामें पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपसका व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थितिको पहुंचनेके लिए हर आदमीको जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए, दूसरे वक्त भी खुद बाध लें और नित्य उसमें वृद्धि करते जाय, जिससे अंतमें हर साससे राम-नाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थनामे वक्त बिलकुल नही जाता। उसमें वक्तकी जरूरत नही, सचेत रहनेकी जरूरत है। जैसे आंख मूंदनेमे समय जाता नहीं जान पडता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थनामे भी वह जाता नही मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती है, यह हम जानते है, वैसे ही प्रार्थना हृदयमें चलनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना करनेवालेको याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनताको बनाये रखकर प्रार्थना नही कर सकता। अर्थात् प्रार्थनाके समय उसको मलिनताका त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गंदा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायिगा वैसे ही ईश्वरके सामने भी गंदा, बुरा काम करते हुए उसे शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर

कामको देखता है, हर विचारको जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नही है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अतमे ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

: १७ :

देख-रेखकी अनावश्यकता

यरवदा-मदिर
२४-७-३२

यह शीर्षक चौकानेवाला है। इसका आशय यह सूचित करना नही है कि हम इसी वक्त बिना किसी देख-रेखके अपना काम-काज चला सकते है। हा, यह आशय अवश्य है कि देख-रेख घटाते जाने और अंतमे उसको बिलकुल ही दूर कर देनेका उपाय सुझाए।

धार्मिक सस्थामे देख-रेखकी जितनी जरूरत पडे, उतनी धर्मकी न्यूनता है। उसके पीछे अविश्वास होता है। अविश्वास धर्मका—आत्माका—घातक है। ईश्वर सबको देखनेवाला है, फिर हमे किसकी देख-रेख

रखनी है ? जिसने रसोई या पाखानेकी सफाई अपने ऊपर ली हो वह अपने आप ठीक तौरसे अपना कांम क्यों न करे ? करेगा यह विश्वास हम क्यों न रखे ? जो निगरानीके विना लिया हुआ काम पूरा या ठीक न करे वह आश्रम छोड़ दे, यह सहन किया जा सकता है; पर निगरानी असह्य लगनी चाहिए। हमारे रोजके कामका आत्मपरीक्षण हमारी देखरेख है ।

यहा देख-रेखका अर्थ समझ लेना चाहिए । वच्चेको तो देख-रेख चाहिए ही। उसे करना आता नही, इसलिए सौंपे हुए कामको वताना जरूरी होता है। बडा भी उसे कोई खास काम न आता हो तो देख-रेख मागता है, चाहता है। सच पूछिए तो इस तरहकी देख-रेख नही, वल्कि शिक्षककी सहायता है। इस सहायताके सहारे नया सीखनेवाला आगे वढता है।

पर जो देख-रेख रखवालीके रूपमें है, वह दोष-पूर्ण है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तौरसे करता है या नही, इसकी निगरानी रखना बुरा है। वच्चोकी भी ऐसी निगरानी रखना वुरी वात है। इस वुराईसे निकल जानेका रास्ता हमें ढूढना चाहिए ।

इस तलाशकी पहली सीढ़ी यह है : जहां-जहां

देख-रेख रखी जाती हो उन कार्योंको नोट कर लो। उनमें कौन-कौन है यह देख लो। उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हें उनके विवेकपर छोड दो। संस्थापक और दूसरोंको इसका पूरा भान होना चाहिए कि परमात्मा बहुत बड़ा साक्षी है। बच्चोंको भी ईश्वर-की उपस्थितिका भान अभीसे होना चाहिए। यह कोई वहमकी चीज नही है, अनिश्चित नही है। अपने अस्तित्वपर अपने निजी अस्तित्वका जितना विश्वास हमें है, उतने ही विश्वासकी यह बात है।

इस सुझावपर सब लोग विचार करते रहे और उसपर जहांतक अमल करना शक्य है वहांतक करना अपना धर्म है।

: १८ :

गीता कंठ करो

'यरवदा-मंदिर
३१-७-३२

गीताको कंठ करनेके विषयमें मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हू। मेरे अपने लिए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नही देता। फिर भी

इस वातको वार-वार कहते मुझे शर्म नही मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मै समझता हू। मेरी गाडी ज्यो-त्यो चल गई है, क्योकि एक वार तो मै तेरहवे अध्यायतक कंठ कर गया था और गीताका मनन तो वरसोसे चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छायाके नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया। पर मै उसे कंठ कर सका होता, अव भी उसमे अधिक गहराईमे पैठ सका होता तो हो सकता है, मैने वहुत अधिक पाया होता। पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय वीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए, यद्यपि मुझे सहज ही इसका सयोग मिल जाय तो गीता कठ करनेका प्रयत्न आरभ कर दू।

यहा गीताका अर्थ थोडा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममेंसे वहुतोका आधार गीता है, इसलिए मैने गीताका नाम लिया है। पर अमतूल (अमतुस्सलाम), अमीना या कुरेशी गीताके वदले कुरानशरीफ पूरा या उसका कोई भाग कठ कर सकते है। जिन्हें सस्कृत न आती हो, जो अव उसे सीख न सकते हो वे गुजराती या हिंदीमे कठ करे। जिन्हें गीतापर आस्था न हो और दूसरे

किसी धर्मग्रंथपर हो वे उसे कंठ करें।

और कंठ करनेका अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीजको हम कंठ करें उसके आदेशानुसार आचरण करनेका हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धांतोंका घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आंख चली जाय, हम वाक्शक्तिसे रहित हो जाय; पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस वक्त अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकटका साथी होगा।

दुनियाका अनुभव भी यही है। हमारे पुरखे—हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी—कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभवको हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशोंमें हमारी श्रद्धाकी परीक्षा है।

: १६ :

वाचन और विचार

१

यरवदा-मंदिर
१४-८-३२

पाठशालाओमे हम पढते हैं--'वाचन मिथ्या बिना विचार।'[1] यह उक्ति शब्दश सत्य है। हमें किताबे पढनेका शौक हो तो यह अच्छा कहा जायगा। आलस्यवश जो पढता नही, बाचता नही वह अवश्य मूढ माना जायगा, पर जो खाली-खाली पढा ही करता है, विचार नही करता, वह भी लगभग मूढ-जैसा ही रहता है। इस पढाईके एवजमे कितने ही आख खो बैठते है, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकारका रोग है।

हममे बहुतेरे निरी पढाई करनेवाले होते है। वे पढते है, पर गुनते नही, विचारते नही। फलत. पढी हुई चीजपर अमल वे क्यो करने लगे? इससे हमें चाहिए कि थोडा पढे, उसपर विचार करे और उसपर अमल करे। अमल करते वक्त जो ठीक

---

[1] 'भणतर मिथ्या वगर विचार।'

न जान पड़े उसे छोड दे और आगे बढें । ऐसा करने वाला थोड़ी पढाईसे अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करनेकी जिम्मेदारी उठानेके योग्य बनता है ।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है । पढ़नेको हमेशा नही मिल सकता । यह देखनेमे आता है कि जिसे पढनेकी आदत पड़ गई हो उसे पढनेको न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करनेकी आदत पड़ जाय तो उसके पास विचारपोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अत: उसे परेशानीमे नही पडना पड़ता ।

विचार करना 'सीखना', यह शब्दप्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है । सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते है । वह तो पागलपन है । कितने ही विचारोंके भंवरमे पड़कर निराश हो जाते और आत्मघात भी कर बैठते है । ऐसे विचारकी वात यहां नही की जा रही है । इस समय तो मेरी सूचना पढ़े हुएपर विचार करनेतक है। मान लीजिए कि आज हमने एक भजन सुना या पढा, उसका विचार करना, उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नही लेना है, इसकी छानवीन करना, उसमें

दोष हों तो उन्हे देखना, अर्थ न समझमे आया हो तो उसे समझना—यह विचार-पद्धति कही जायगी। यह मैंने सादे-से-सादा दृष्टांत लिया है। इसमेसे हरएक अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार दूसरा दृष्टांत घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंतमे आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

: २० :

वाचन और विचार

२

यरवदा-मंदिर

२१-८-३२

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है?"—अरे मुसाफिर, उठ। सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढा, पर विचार नही किया; क्योकि वह सवेरेके समय उठकर ही अपने आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने आपसे पूछता है—मुसाफिर यानी कौन? सवेरा हुआके मानी क्या हुए? रात गई यानी?

सोना क्या है ? यों सोचें तो रोज एक पंक्तिसे अनेक अर्थ निकाल लें और समझें कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वरपर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रातके मानी आराम भी हो सकते है और जो जरा भी गाफिल—लापरवाह—रहता है उसपर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्तिका ध्यान मनुष्यके लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारों वेद कण्ठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवालेके लिए वह बोझरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबानपर चढी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जाय तो जीवनमें नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

: २१ :

सविचार कार्य और विचाररहित कार्य

१

यरवदा-मंदिर

२८-८-३२

वाचन और विचारके विषयमे तो मैं लिख चुका। आज कार्य और विचारके विषयमे थोड़ा लिखता हूं। मेरी दृष्टिसे विचार करनेकी कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुदर रीतिसे सज जायं।

जिस स्त्रीने नेवलेके मुहमे लहू लगा देखकर उसपर अपना भरा घड़ा फोड़ा, उसने बहुत ही अविचारका काम किया और अतमें अपने बच्चेको बचानेवालेका वध करनेके लिए उसे बहुत पछताना पड़ा और इसका दाग जिदगीभर मिटा न सकी। घड़ा फूटा, पानी गया, यह तो हिसाबमें लेने लायक भी न समझा जायगा। इतना भारी अपराध उसने किया।

यह दृष्टांत तो अतिम कहा जा सकता है; पर हमारा ध्यान इससे मूलविषयपर ठीक बैठ सकता है। आश्रममे जितने काम हम करते है उतने विचार-

पूर्वक करे तो शाति बढे, करनेवालेकी दक्षता बढे, बहुत-सा वक्त बचे और काममे नित्य नया रस पैदा हो। हम जानवरके जरिए रहट चलाते है। जानवरको बडी मशक्कत करनी पडती है; पर उसके ज्ञानमे वृद्धि नही होती, अपने काममे उसे रस नही आता। आदमी सिरपर सवार न हो तो जानवर रहटकी चर्खी घुमाए नही। पर हम तो मनुष्य है। मनुष्यके मानी है विचार करनेवाला, ज्ञानवान। हमे पशुकी भाति तो नही रहना या व्यवहार करना चाहिए।

हम पाखाना साफ करते है। विचारके बिना करे तो यह काम नीचा मालूम होगा, खराब लगेगा और मन यही चाहेगा कि उससे कब छूटे। विचार-पूर्वक करे तो जानेगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करनेके मानी है पूरी सफाई करना, पाखानेको ठीक तौरसे ढकना, साफ करनेके औजारोको साफ रखना, पाखानेकी जांच करना, उसमे खून हो, बदबू हो, कीड़े हो तो समझे कि कोई बीमार है, और कौन है इसका पता लगा ले। हरएक पाखानेका कौन-कौन इस्तेमाल करता है इसका पता तो हमे होता ही है। पाखाना साफ करते वक्त मालूम हो कि वह धूलसे ठीक तौरसे ढका नही गया है, मैला बाहर पड़ा

है, पेशाब भी नीचे पडा है, तो यह दोप करनेवालेको ढूढ निकाले और उसको विनयपूर्वक समझावे। यह सब तो उसीसे हो सकता है जो सेवाभावसे इस कामको करता है। इसलिए ज्यो-ज्यो अपने कार्यमें विचारसे काम लेता जायगा त्यो-त्यो वह सुधरेगा, सहल होगा और मन ऊबनेके बजाय उसमे रस आवेगा। पाखानेके वारेमे जितनी वाते सोची जा सकती है सब यहा नही दी है, उनका नमूना भर दे दिया है।

कताईके यज्ञको ले तो उसके विपयमे भी यदि विचारमय काम हो तो हमे उसमेसे रसके घूट मिलेंगे और कताईकी कलाकी प्रगतिकी हद ही न होगी। सब विचारपूर्वक काते तो हम वहुतेरी नई खोजे करे और सूत अच्छे-से-अच्छा निकाले।

यही बात प्रार्थनाकी है। प्रार्थना क्या है? किसलिए की जाती है? मौन क्यो रखते है? प्रार्थना संस्कृतमे क्यो हो? गुजराती, मराठी या हिंदीमे क्यो न की जाय? आदि अनेक वातोका विचार करके हम प्रार्थनाको प्रचडशक्ति वना सकते है, पर हम उसके विषयमे कम-से-कम विचार करते हुए जान पडते है।

योग कर्मसु कौशलम्—यह गीताका विचार प्रौढ है। योगका अर्थ है जुडना। ईश्वरके साथ जुड जानेका नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशलसे वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवालेको अपने कर्ममे तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए। तकलीपर कातनेवाले विचारकने चरखेका महान् आविष्कार किया। चरखा कातनेवाले विचारक यात्रिकने हजारो तकलीवाला चरखा वनाया। मेरी दृष्टिसे इसमें उसकी बुद्धि खूब चली; पर हृदय नही चला। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। फिर भी विचारशून्यताकी तुलनामे तो यत्रका आविष्कार करनेवालेकी विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

: २२ :

सविचार कार्य और विचाररहित कार्य

२

यरवदा-मंदिर
११-९-३२

काम करनेमे भी विचारशक्तिका पूरा उपयोग करनेके विषयमे लिख चुका हूँ। उस पत्रके अतमें एक विचार किया था, जिसका कुछ विस्तार करना जरूरी है। उसमे मैंने यह सुझाया था कि विचार समाजपोषक होता है और समाजनाशक भी होता है, दैवी होता है और आसुरी भी होता है। एक आदमी चरखा कातते हुए रोज उसमे ऐसे सुधार करनेकी बात सोचता है जिससे लाखो-करोड़ों कातनेवालोको आराम मिले, लाभ हो। दूसरा सोचता है कि मैं खुद ही एक चरखेके जरिए लाखोके बराबर सूत कात लू तो कैसा अच्छा हो! पहलेका विचार समाजका पोषक है, दैवी है। दूसरेका आसुरी है, समाज-हितका विरोधी है। इसलिए हरएक काम करते हुए हम विचार करें, इतना ही काफी नही है। वह विचार सबके हितका भी होना चाहिए, केवल अपने ही

स्वार्थका नहीं। सच पूछिए तो जो केवल अपने ही स्वार्थके लिए प्रयास करता है वह दूसरोंका नुकसान तो करता ही है, अपना स्वार्थ भी अंतमें नहीं साध सकता।

इस दृष्टिबिंदुको सामने रखकर हरएक अपने हर काम, हर उद्योगके विषयमें विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने कामको रसमय बनाता है, अपनी बुद्धिका विकास करता है, अपने हृदयको विशाल बनाता और शुद्ध करता है, कार्यमें कुशलता प्राप्त करता है और उसमें ऐसी खोजें और सुधार करता है, जिनसे समाजका कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काममें उसका रस बढ़ता है, इससे उसको आनंद होता है, थकावट नहीं आती और कार्य कलामय हो जाता है, फिर भले ही वह पाखाना साफ करना हो, गली-सड़ककी सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो या गोशालाका हो, किताबें लिखनेका हो या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आए उसीमें वह ईश्वरको देखेगा, उसीकी सेवा देखेगा। उसका रस कामके,

जाति-वर्गके ऊपर अवलंबित नही होता। उसका रस उसके अंतरसे, उसकी कर्त्तव्यपरायणतासे निकलता है। जो अनासक्तियोगको समझना, साधना चाहता हो उसको हरएक काम इसी तरह करना उचित है।